पुस्तक :

'अन्तर की ओर'

[प्रथम भाग]

प्राप्तिस्थान :

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन,
पीपलिया बाजार,
ब्यावर (राजस्थान)

संस्करण : प्रथम
प्रति : ११००
सन् : १९६८
मूल्य : तीन रुपया

मुद्रक :

उद्योगशाला प्रेस, (हरिजन सेवक संघ)
किंग्सवे कैम्प, दिल्ली-९

समर्पण

परम श्रद्धेय ! पूज्य गुरुवर !

श्री मधुकर मुनिजी महाराज !

त्वदीयं वस्तु योगीन्द्र ! तुभ्यमेव समर्पये

—कमला

श्रीमान् गुमानमलजी सा० चोरड़िया

परिचय-रेखा

श्रीमान् चोरडियाजी अत्यन्त गंभीर, विवेकशील, सेवाभावी, उदार-मना सज्जन श्रावकरत्न है। आपकी जन्मभूमि नोखा (चांदावतों का) मारवाड़-राजस्थान है। स्वर्गीय श्री राजमलजी चोरड़िया के आप सुपुत्र हैं। आपके पाँच सहोदर अनुज भ्राता हैं—मांगीलालजी, चंपालालजी, दीपचन्दजी, चन्दनमलजी और फूलचन्दजी। सभी भाई अच्छे सम्पन्न और धार्मिक वृत्ति वाले हैं। सभी का व्यवसाय मद्रास में चल रहा है।

आप स्था० जैन समाज के अग्रगण्य धर्मनिष्ठ श्रेष्ठी श्रद्धेय श्री मोहन-मलजी सा० चोरड़िया के विश्वस्त प्रधान मुनीम हैं और मद्रास में आपका अपना व्यवसाय भी चलता है।

आपने श्रावक के व्रत स्वीकार किये हैं। पाँचवें अणुव्रत–इच्छापरिमाण व्रत पर भी आप बहुत सुदृढ़ हैं। अपनी की हुई मर्यादा से अधिक होने वाली वार्षिक आय को आप शीघ्रतम शुभ कार्यों में वितरित कर देते हैं।

स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज के प्रति आपकी अनन्य श्रद्धा है। पूज्य गुरुदेव की स्मृति में जो स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित हुआ था उसमें आपका महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय योग रहा। वर्तमान में पूज्य गुरुदेव की स्मृति में जो **'मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन'** संस्था चल रही है उसके आप मुख्यतम सहयोगी हैं।

संस्था की ओर से प्रकाशित होने वाली प्रस्तुत पुस्तक—'अन्तर की ओर' के प्रकाशन में आपकी ओर से १२५०) रु० की सहायता दी गई है।

'अन्तर की ओर' पुस्तक में जो प्रवचन संकलित किये गये हैं उन सब सम्पादन का व्यय भी आपने ही उठाया है। सच तो यह है कि आप इस संस्था के आधारभूत स्तम्भ हैं। किन शब्दों में हम संस्था की ओर से धन्यवाद अर्पित करें?

—प्रकाशक

श्रीमान् गुमानमल जी सा० चोरड़िया

प्रकाशक की ओर से

स्वर्गीय सन्तसत्तम पूज्यश्री हजारीमलजी म० की स्मृति में 'मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ' प्रकाशित करने के उद्देश्य से एक समिति की स्थापना की गई थी। ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। जैन और जैनेतर सभी विद्वानों ने, जिन्होंने उसे देखा, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसे एक अनुपम ग्रंथ की संज्ञा प्रदान की। समिति का कार्य सम्पन्न हो गया।

किन्तु पुष्कर (अजमेर) में जब समिति की अन्तिम बैठक हुई तो उसमें प्रकाशन के प्रक्रम को भविष्य में चालू रखने का निर्णय किया गया और वह समिति 'मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन' के रूप में परिणत कर दी गई।

इस संस्था ने सर्वप्रथम विदुषी महासती श्री उमरावकुँवरजी म० के प्रवचनों का एक उपयोगी संग्रह 'आम्रमंजरी' नाम से प्रकाशित किया है। तत्पश्चात् स्था० जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् विचारक मुनिश्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' के प्रवचनों का यह संकलन दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम भाग पाठकों के हाथ में है, दूसरा भाग शीघ्र ही पहुँचने वाला है।

'अन्तर की ओर' क्या है? इसमें जीवन के नैतिक और धार्मिक अभ्युत्थान का सन्देश है। जीवन को दिव्यता की ओर प्रेरित करने की बलवती प्रेरणा है और देश को जिन अमंगल बुराइयों ने बुरी तरह जकड़ लिया है, उनसे छुटकारा पाने का निर्दिष्ट पथ है।

प्रकाशन की ओर से जैन समाज के मनीषी लेखक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम० ए०, पी०एच०, डी० द्वारा लिखित 'जैनदृष्टि' नामक पुस्तक भी प्रकाशित की जा रही है, जो उन पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी जो जैनधर्म एवं दर्शन के विषय में प्राथमिक जानकारी चाहते हैं।

आशा है, पाठकगण इस सब साहित्य से लाभ उठाएँगे और संस्था के सहयोगी बनकर इसकी प्रकाशन-क्षमता की वृद्धि में सहायक होंगे।

पीपलिया बाजार
ब्यावर

मंत्री,
मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

दो शब्द

अन्तर को उन्नत, पवित्र तथा उज्ज्वल बनाने वाली यह पुस्तक 'अन्तर की ओर' पाठकों के कर-कमलों में पहुँचा सकने के कारण आज मेरा अन्तर असीम आह्लाद से परिपूर्ण है।

यह मेरा द्वितीय प्रयास है। इससे पूर्व मैंने परम विदुषी महासती श्री उमराव कुँवरजी म० 'अर्चना' सिद्धांताचार्य के विद्वत्तापूर्ण तथा मार्मिक प्रवचनों का सम्पादन 'आम्र-मंजरी' के रूप में किया है। पाठकों ने उसे पसंद किया, यह मेरे लिए संतोष का कारण बना। इसी से उत्साह तथा प्रेरणा लेकर पंडित-रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' के प्रवचनों का संपादन कर उनके विचारों को पाठकों के अन्तर की ओर पहुँचाने का प्रयत्न किया है। पाठक स्वयं ही पढ़कर निर्णय करेंगे कि इसमें मुझे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक 'अन्तर की ओर' आध्यात्मिक साहित्य की एक उज्ज्वल किरण है। यह जन-मानस को, विशुद्ध, समुन्नत और परिष्कृत बनाने में अत्यन्त सहायक होगी तथा नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का दिव्य संदेश देगी। आज ऐसे साहित्य की अतीव आवश्यकता है। भारतवर्ष में आध्यात्मिकता अंकुरित हुई, फली-फूली तथा विकास की चरम सीमा पर पहुँची। विभिन्न देशों के अनेक जिज्ञासुओं ने भी यहाँ आकर आध्यात्मिकता की गहरी सरिता में अवगाहन किया। वहाँ आज भौतिकता का बोलबोला है। जिधर दृष्टि पड़ती है वैर, विरोध, वासना तथा भ्रष्टाचार का नग्न नृत्य दिखाई देता है। ऐसे समय में मनुष्य के अन्तर को आध्यात्मिकता की ओर ले जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है और यही विद्वद्वर्य श्री मधुकर मुनिजी ने किया है।

आपके प्रवचन आपके सौम्य तथा मधुर व्यक्तित्व की तरह ही सरलता और मधुरिमा से परिपूर्ण हैं। निगूढ़ विषयों को भी अत्यन्त सरल ढंग से समझा सकने वाली आपकी अद्भुत शैली प्रशंसनीय है; जिसका अनुभव मैंने समय-२ पर म० श्री के सान्निध्य में रहकर किया है। विभिन्न दर्शनों का तथा आगमों का आपको गम्भीर ज्ञान है। इस पुस्तक में श्री स्थानांग सूत्र की अनेक चौभंगियों पर आपका विस्तृत विवेचन दिया गया है। प्रत्येक

विषय के मर्म तक पहुँचना आपकी बड़ी भारी विशेषता है। आपके गूढ़ चिंतन का यह चिह्न है।

संपादन करते समय आपके विचारों को सही रूप में रहने देने का मैंने भरसक प्रयत्न किया है, फिर भी आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं न्यूनाधिकता भी की गई है।

संपादनकाल में संयमनिष्ठ, श्रद्धेय उपप्रवर्त्तक श्री व्रजलालजी म० सा० ने अत्यन्त वात्सल्य-भाव से मुझे अनेक सुझाव दिये और सतत प्रेरणा प्रदान की है तथा मेरे पिताजी पं० श्री शोभाचन्द्रजी सा० भारिल्ल ने मेरी पूर्व कृति 'आम्र-मंजरी' की तरह ही इस प्रवचन-संग्रह को भी अपने हाथों से संवार दिया तथा समय-समय पर मेरा मार्ग-दर्शन कर मुझे उत्साहित किया इसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

कि बहुना, आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि, पाठक मेरे इस प्रयास का भी सहर्ष स्वागत करेंगे तथा 'अन्तर की ओर' प्रवचन-संग्रह में से राजहंस के समान उत्तम विचारों के अमूल्य मोती चुनेंगे।

—कमला जैन 'जीजी'

विषयानुक्रम

[१]

साधना का मार्ग : सरलता

धर्म का एकमात्र ध्येय है मुक्ति प्राप्त करना। मुक्ति की प्राप्ति तब होती है जबकि राग, द्वेष तथा अज्ञान आदि विकारों को पूर्णरूपेण नष्ट कर दिया जाय। मुक्ति की वांछा सभी के हृदय में होती है। बन्धन किसे प्रिय लगता है? सब मुक्त होना चाहते हैं, सब उसके लिए अपने-अपने ढंग से प्रयास करते हैं। किन्तु न तो सभी को मुक्ति मिलती है और न सभी को एक सरीखी क्रियाओं का एक-सा फल ही मिलता है।

एक ही बाजार में एक ही वस्तु का व्यापार करने वाले अनेक व्यापारियों को हम देखते हैं किन्तु हम पाते हैं कि उन्हें एक-सरीखा लाभ नहीं होता। किसी को लाखों की आमदनी होती है, कोई पेट ही भर पाते हैं और कोई-कोई तो अपनी लगाई हुई पूंजी को भी खो बैठते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसके अनेक कारण हो सकते हैं।

कोई व्यापारी अपने व्यापार को पूरी ईमानदारी से करता है और अहर्निश अपने कार्य की प्रगति का ध्यान रखते हुए परिश्रम करता है। दूसरा व्यक्ति कार्य तो प्रामाणिकता से करता है किन्तु सुखशील होने के कारण पूरा समय दुकानदारी में नहीं लगाता और आय से अधिक खर्च कर देता है। तीसरे प्रकार का व्यक्ति धूर्त्त होता है, बेईमानी से पैसा कमाना चाहता है पर उसकी धूर्त्तता तथा बेईमानी अधिक दिन नहीं चलती, एक न एक दिन पोल खुल जाती है।

परिणामस्वरूप प्रथम व्यक्ति अपने परिश्रम तथा सच्चाई के द्वारा लाखों रुपया कमाता है और बाजार में उसकी साख बनी रहती है। दूसरा व्यक्ति ईमानदार होते हुए भी आलस्य तथा अधिक व्यय के कारण सिर्फ अपने परिवार की और अपनी उदरपूर्ति कर पाता है। तीसरी श्रेणी का व्यक्ति निकृष्ट होता है। वह ठग और कपटी होने के कारण शीघ्र ही लोगों की नजरों में गिर जाता है तथा लाभ न होने के कारण धीरे-धीरे जमा पूंजी भी खो बैठता है।

यही हाल साधनापथ पर चलने वाले साधकों का भी होता है। साधना का मार्ग अत्यन्त विषम और कण्टकाकीर्ण है। किन्तु इसी पर चलकर आत्मा मुक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच सकती है। अनंत आत्माएँ इस पथ का अवलंबन करके शाश्वत सुख की अधिकारिणी बनकर मुक्त हुई हैं। अनेक देवत्व प्राप्त करके सुख का उपभोग करती हैं किन्तु अनेक पापात्मा साधक ऐसे भी होते हैं जो साधना का ढोंग करते हुए, बकवृत्ति का अवलम्बन करके जीवन के अन्त में नरक की ओर प्रयाण करते हैं।

साधना-पथ पर चलने वाले सभी साधकों को साधना का फल समान क्यों नहीं प्राप्त होता ? सभी संयमी मोक्ष क्यों नहीं पाते ? इसके उत्तर में कई कारण बताए जाते हैं। प्रथम तो साधना पथ पर चलनेवाले सभी साधकों की स्थिति समान नहीं होती। सब की दृढ़ता तथा शक्ति एक-सी नहीं होती। साधना में जो मजबूत होते हैं वे अपने कर्मों का क्षय शीघ्र कर लेते हैं तथा जो दुर्बल होते हैं वे मंजिल पर धीरे-धीरे पहुंच पाते हैं। दूसरे, साधना के तरीके सभी के समान फल देने वाले नहीं होते क्योंकि साधना विभिन्न प्रकार की होती है। तीसरे, साधना की क्रियाएँ एक-सरीखी होने पर भी साधकों के मनोबल में जमीन-आसमान का अंतर हो सकता है। सभी की भावनाएँ एक-सी नहीं रहतीं। क्रिया एक ही होती है किन्तु एक साधक उसे सच्चे मन से करता है और दूसरा दिखावटी तरीके से। चौथा कारण यह है कि साधक को पूर्वसंचित कर्मों को भी भोगना पड़ता है और वे सब के समान नहीं होते। उनके कारण साधना में भी तरतमता आ जाती है।

एक ही गुरु से साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करने पर भी कोई शिष्य ज्ञानावरणीय कर्म का बंध अधिक तीव्र होने के कारण विशेष ज्ञानलाभ नहीं कर पाता और दूसरे के ज्ञानावरणीय कर्म का उदय तीव्र न होने से वह शीघ्र ही ज्ञानलाभ कर अपनी साधना व स्वाध्याय आदि को सफल बना लेता है।

कोई असातावेदनीय कर्म का उदय होने के कारण अस्वस्थता की दशा में अधिक साधना नहीं कर पाता और कोई पूर्ण स्वस्थ रहने के कारण अपना अधिक से अधिक समय साधना में लगाता है। इसके अतिरिक्त भी कोई साधक थोड़ी साधना भी, पूर्ण सरलतापूर्वक अपनी प्रत्येक भूल की आलोचना करते हुए करता है। और कोई साधना का दिखावा अधिक करता हुआ भी उसमें दत्त-चित्त नहीं हो पाता और इस कपट के कारण सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसे साधक को कुछ भी हासिल नहीं हो पाता। कहते भी हैं—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम।
न इधर के रहे न उधर के रहे॥

ऐसा साधक सिद्धि प्राप्त करने के लिए संसार के भोगविलास को त्याग देता है और साधना में मन को न रमा सकने के कारण कर्मों का क्षय भी नहीं कर पाता।

कहने का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक साधक साधना करता है किन्तु विभिन्न कारणों से उनकी सिद्धि में अन्तर पड़ जाता है। एक ही प्रकार की साधना करने वालों में से कोई तो एक जन्म में ही कर्मों का नाश कर लेता है और कोई अनेक जन्मों में भी कर्मों का क्षय नहीं कर पाता।

अगर करनी में सच्चाई होती है तो कर्मों का पर्वत भी अल्प समय में विखर जाता है। इसके विपरीत अगर करनी में मलिनता और कपट हो तो स्वल्प पुरातन कर्मों का भी क्षय होना कठिन हो जाता है। यही नहीं, कपट-साधना के फलस्वरूप वह नूतन कर्मों से भी लिप्त वन जाता है। उस क्रिया से उसे यथेष्ट फल प्राप्त नहीं होता। कवीर ने कहा है—

एक कर्म है बोना उपजे बीज बहुत।
एक कर्म है पूंजना उदय न अंकुर सूत॥

साधक का आदर्श कर्मवन्ध से वचना है। वह संवर और निर्जरा के लिए ही प्रयत्नरत रहता है। किन्तु इस प्रकार की वृत्ति सदा संभव नहीं है, फिर भी उसे अशुभ क्रिया से तो वचना ही चाहिए। शुभ क्रिया का वड़ा महत्त्व है।

Good actions are the invisible hinges of the doors of heaven.

शुभ क्रियाएं स्वर्ग के दरवाजे का अदृश्य कब्जा हैं। साधक अपनी साधना को सफल वनाने के लिये जो-जो क्रियाएं करता है वे सम्यक् तव कहलाती हैं जब उन्हें शुद्ध मन से और शुद्ध श्रद्धा से किया जाय। साधना करते समय अगर मनोवल कमजोर हो गया और मन की पवित्रता में कलुषता घुल गई तथा साधना दिखावा ही रह गई तो सारा गुड़ गोवर हो जाता है। किया कराया मिट्टी में मिल जाता है।

स्थानांग सूत्र में एक चौभंगी के द्वारा मार्गों की वक्रता तथा ऋजुता (सीधापन) का उदाहरण देते हुए, पुरुषों के विषय में वताया है—

कोई आंतरिक रूप में वक्र और वाह्य रूप में सरल होते हैं।

कोई वाहर से टेढ़े और अभ्यंतर में सरल होते हैं।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो वाहर-भीतर दोनों ओर से कुटिल।

कुछ पुरुष अंदर और वाहर दोनों रूपों में सरल होते हैं। चौभंगी इस प्रकार है :—

चत्तारि मग्गा पण्णत्ता, तंजहा—उज्जू णाममेगे उज्जू, उज्जू णामेगे वंके, वंके णाममेगे उज्जू, वंकेणाममेगे वंके। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता।

अर्थात् मार्ग चार प्रकार के होते हैं। प्रथम मार्ग आरंभ से अंत तक सीधा होता है, दूसरा आरंभ में सीधा पर वाद में टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है। तीसरा मार्ग प्रारम्भ में टेढ़ा पर वाद मे सीधा हो जाता है और चौथा प्रारम्भ से अंत तक टेढ़ा-मेढ़ा ही होता है।

चौभंगी में आगे कहा गया है—'एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता।' अर्थात् मार्ग की तरह ही पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं। आशय पुरुषों के हृदय की कुटिलता (वक्रता) तथा सरलता से है।

प्रथम प्रकार के पुरुष अत्यन्त सरल होते हैं। उनके हृदय में कपट तथा कुटिलता कभी स्थान नहीं पाती। जैसा उनका हृदय सरल तथा स्वच्छ होता है उसी अनुरूप उनका आचरण भी होता है। आभ्यंतर तथा वाह्य दोनों रूपों में वे निष्कपट तथा वक्रता-रहित होते हैं।

किसी भी व्यक्ति तथा साधक की साधना भले ही उच्च न हो, भले ही उसके जीवन में त्याग की मात्रा कम हो, किन्तु अगर उसके हृदय में सरलता है तो वह अनेक साधकों से श्रेष्ठ है। सरलता स्वाभाविक चीज है, उसमें कोई मिलावट नहीं होती। प्रकृति की सभी वस्तुएं सुन्दर होती हैं क्योंकि वे सव स्वाभाविक होती हैं। उनमें वनावट नहीं होती। जैसी होती हैं वैसी ही दिखलाई पड़ती हैं।

मनुष्य का हृदय भी स्वाभाविक रूप से विल्कुल सरल होता है। किन्तु उसमें कुटिलता तथा कषायों की मलिनता वाहरी वातावरण या संस्कार से आ जाती है। आज का नागरिकजीवन वनावट, दिखावट तथा ऊपरी ढोंग से दूषित हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को संदेह तथा अविश्वास की दृष्टि से देखता है। कोई किसी का विश्वास नहीं करता।

एक व्यक्ति दूसरे को अगर कर्ज देता है तो वह, चाहे सगा भाई भी क्यों न हो, पूरी लिखा-पढ़ी किये बिना नहीं देता।

किन्तु गाँवों में आज भी मनुष्य अत्यंत सरल होते हैं। उन्हें शहरों के जैसे कायदे कानूनों की आवश्यकता नहीं होती। बड़ी-बड़ी समस्याएँ भी वे अपने गाँव की पंचायतों में ही सुलझा लेते हैं। ग्रामीण व्यक्ति अशिक्षित अथवा अधिक शिक्षित न होते हुए भी आचरण से अत्यंत महान् होते हैं। वहां एक व्यक्ति की बहू-बेटी को सारा गाँव अपनी बहू-बेटी मानता है। किसी कवि ने सदाचार का महत्त्व बताते हुए कहा है कि कोई मनुष्य कितना भी ज्ञानी, शास्त्रों में पारंगत विद्वान् तथा साक्षात् बृहस्पति भी क्यों न हो किन्तु अगर वह आचरणहीन है तो उसे धिक्कार है :—

मतिमान हुए, धृतिमान हुए, गुणवान हुए वहु खा गुरु लातें।
इतिहास भूगोल, खगोल पढ़े नित न्याय रसायन में कटी रातें।
रस पिंगल भूषण भाव भरी, गुण सीख गुणी कविता करी घातें।
यदि मित्र चरित्र न चारु हुआ, धिक्कार है सब चतुराई की बातें।

वास्तव में जिस ज्ञान से चरित्र की प्राप्ति न हो और सरलता की जगह जटिलता और अहम् आ जाएं, वह ज्ञान निष्फल है।

धर्मराज युधिष्ठिर का बाहरी आचरण और आंतरिक भावनाएं कितनी सरल निष्कपट और सच्चाई से भरी हुई थीं। उनके लिए दुश्मन व दोस्त में तनिक भी अंतर नहीं था।

कौरवों तथा पांडवों में महा-भयानक युद्ध हो रहा था और महाभारत अपनी समाप्ति पर आने को था। जब कौरवों की सेना के बड़े-बड़े महारथी काम आ चुके तब दुर्योधन घबराया। विचार करने लगा कि पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, महारथी कर्ण और मेरे सभी भाई प्रयाण कर चुके! अब मेरी बारी आ गई है, क्या उपाय करूं जिससे मैं बच जाऊं?

बहुत सोचने पर भी उसे कोई उपाय अपने बचाव का नहीं सूझा तो वह सीधा युधिष्ठिर के पास ही चला गया। उनसे ही दुर्योधन ने अपने बचने का उपाय पूछा।

युधिष्ठिर सच्चे व सरल थे। उन्होंने यह जानते हुए भी कि महाभारत का मूल और समस्त गृह-कलह का कारण दुर्योधन ही है, उसे सस्नेह अपने पास बैठाया, शांत किया और कहा—

भाई, कल युद्ध का अठारहवाँ तथा मेरी समझ में अंतिम दिन है। तुम्हारे लिए बड़ा अशुभ भी है किन्तु अगर मेरी सलाह के अनुसार चलोगे तो तुम्हारा बाल बांका नहीं होगा। माता गांधारी महान् पतिव्रता तथा शिरोमणि नारी हैं। उन्होंने अपने नेत्रों को वस्त्र से बांध रखा है। उन नेत्रों में इतनी शक्ति है कि अगर वे अपने नेत्रों को खोलकर किसी के शरीर की ओर दृष्टिपात करें तो उसका शरीर वज्र का हो जाएगा। अगर तुम मृत्यु से बचना चाहते हो तो माता गांधारी की शरण लो और उनसे कहो कि—अगर आज तुम मेरा मुंह नहीं देखोगी तो फिर कभी नहीं देख सकोगी।

दुर्योधन को मानो नया जीवन मिल गया। वह मन ही मन खुशी से नाचता हुआ वहां से लौटा। पर मार्ग में ही श्रीकृष्ण उसे मिल गए। कृष्ण ने चतुराई से जान लिया कि क्या गड़बड़ हो गई है। उन्होंने दुर्योधन को बेवकूफ बनाया। कहा—क्या तुम अपनी माता के सामने नग्न होओगे? शर्म नहीं आएगी क्या? कम से कम अपने गुप्तांग तो ढंक लेना।

कहते ही हैं—"विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।" विनाश का काल उपस्थित होने पर मति मारी जाती है।

दुर्योधन ने केले के पत्तों से शरीर के गुप्तांग को आवृत कर लिया। परिणाम स्वरूप गांधारी की दृष्टि पड़ने से उसका समस्त शरीर तो वज्र का हो गया किन्तु पत्तों से ढंका हुआ शरीर का भाग वज्र का नहीं हो सका। और उसी जगह जांघ पर महाबली भीम द्वारा गदा-प्रहार करने से दुर्योधन की मृत्यु हुई।

बंधुओ! कथानक का अंतिम भाग हमारे विषय से संबंधित नहीं है। क्योंकि दुर्योधन का मृत्युकाल उपस्थित हो गया था। मृत्यु को कोई एक पल के लिये भी नहीं टाल सकता। चाहे वज्र का शरीर हो जाये या वज्र-निर्मित गढ़ में जाकर भी मनुष्य छिप जाय। कहा भी है—

वज्र विनिर्मित गढ़ में या अन्यत्र कहीं छिप जाना।
पर भाई यम के फंदे में अन्त पड़ेगा आना॥

हमें तो यह देखना है कि युधिष्ठिर कितने सरल व्यक्ति थे कि जिन्होंने अपने घोर विरोधी को, जिसने बार-बार उन्हें भाइयों सहित मार डालने का प्रयत्न किया, जीतने का तरीका बता दिया। क्षण भर के लिए भी यह नहीं सोचा कि जब तक दुर्योधन जीवित रहेगा हमारी विजय नहीं होगी।

इसके अलावा, इस कथा से हम यह भी समझ सकते हैं कि सरल-चित्त व्यक्ति कितना विश्वसनीय होता है। दुर्योधन महाकुटिल तथा दुर्जन व्यक्ति था फिर भी उसे युधिष्ठिर पर पूर्ण विश्वास था और इसीलिए प्रति-पक्षी होते हुए भी वह निस्संकोच धर्मपुत्र युधिष्ठिर के पास अपने जीवन की रक्षा का उपाय पूछने जा सका।

सरलता सच्चाई पर निर्भर होती है। जो पुरुष सत्यवादी होता है उसके हृदय में सरलता स्वयं अपना स्थान बना लेती है। मनुष्य-समाज तभी स्थिर रह सकता है, जब कि सच्चाई विद्यमान रहे। यदि संसार में झूठ ही झूठ रहे तो कोई किसी पर विश्वास न कर सके और संसार का विनाश न हो तो भी वह नरक तो अवश्य बन जाय। चाणक्य का कथन है :—

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् सत्य से सूर्य तपता है, सत्य से ही वायु बहता है। सब सत्य में ही स्थिर है।

सत्य का उल्लंघन करने से मानव समाज दूषित हो जाता है और उसके नष्ट-भ्रष्ट होने की नौबत आ सकती है। अंग्रेज दार्शनिक एमर्सन ने भी कहा है—

"Every violation of truth is a state at the health of human society". सत्य का प्रत्येक उल्लंघन मानव समाज के स्वास्थ्य में छुरी भोंकने के समान है।

सच्चा पुरुष अत्यन्त ईमानदार होता है। उसका मुकाबला एक मेधावी पुरुष भी नहीं कर सकता। सच्चाई और ईमानदारी एक-दूसरे से बंधी हुई होती हैं। और जहां सचाई नहीं होती वहां ईमानदारी और प्रामाणिकता भी नहीं होती। कपट मनुष्य को घृणास्पद बना देता है और उसके अन्य गुणों को खोखला करके ढहा देता है। उसकी सरलता नष्ट हो जाती है और वक्रता उसके जीवन में सिक्का जमा लेती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रथम प्रकार के महापुरुष बाह्य और आभ्यंतर दोनों रूप से अत्यंत सरल होते हैं। वे पूर्ण प्रामाणिक होते हैं क्योंकि सदा सत्य पर दृढ़ रहते हैं। ऐसे ही पुरुष इस लोक में यश तथा विश्वास के पात्र बनते हैं और इस लोक के बाद मुक्ति के अधिकारी बन जाते हैं। इस संबंध में बताया गया है—

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारणं परमं।
सच्चं सग्गद्दारं, सच्चं सिद्धिस्ससोवाणं॥

अर्थात् सत्य यश का मूल है, सत्य विश्वास का कारण है। सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य सिद्धि (मुक्ति) का सोपान है।

एक बार भगवान् ऋषभदेव के शिष्य नित्य की अपेक्षा कुछ विलंब से अपने स्थान पर लौटे। भगवान् ने उनसे देर से लौटने का कारण पूछा।

शिष्य बोले—भगवन्, मार्ग में नट का नृत्य हो रहा था, उसे देखने के लिए वहां रुक गए थे।

भगवान् ने उन्हें समझाते हुए कहा—जैनशासन में साधुओं को नाटक-तमाशा देखना वर्जित है। अतः तुम प्रायश्चित्त लो और भविष्य में उन्हें देखना छोड़ दो।

शिष्यों ने नतमस्तक होकर प्रभु की आज्ञा मान ली। किन्तु दूसरे दिन वे फिर कुछ देर से लौटे।

भगवान् ने पुनः उनसे विलंब का कारण पूछा तो शिष्यों ने उत्तर दिया—आज हम नटी का नृत्य देखने लग गए थे।

भगवान् ने कहा—मैंने तुम्हें कल तो नृत्य देखने को मना किया था। फिर भी आज तुम लोग नृत्य देखने चले गए।

शिष्यों ने अत्यंत सरल हृदय से कहा—भगवन्! आपने नट का नृत्य देखने के लिए मना किया था। वह हमने नहीं देखा, बस, नटी का नृत्य देखकर ही आ गए। अगर यह भी अपराध हो तो आप क्षमा करें। हम अब कभी नृत्य नहीं देखेंगे।

गुरु अपने प्रिय शिष्यों की सरलता भरी जड़ता देखकर मुस्कराने लगे और बोले—भोले वत्सो! नट के नृत्य के निषेध में नटी के और साथ ही प्रत्येक प्रकार के नृत्य का निषेध समझना चाहिये। अस्तु, इसकी भी शुद्धि करो और भविष्य में ऐसे दोषों से बचो।

शिष्य अत्यंत सरल थे। उन्होंने बड़ी नम्रता के साथ गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और प्रायश्चित्त कर लिया।

यह उस समय का उदाहरण है जब लोगों की प्रकृति में वक्रता तथा छल-कपट नहीं था। शिष्यों ने लोलुपता से नृत्य नहीं देखा था, भोलेपन से

व सहज-भाव से मार्ग में नृत्य देखने लग गए थे और इसीलिए बिना कोई बहाना बनाए निष्कपट भाव से गुरु के सम्मुख यथार्थ बात प्रकट कर दी। ऐसे शिष्य भी सफल साधक बनकर सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। जो शिष्य ज्ञानवान होने पर भी कपटी तथा वक्र होते हैं उनका उद्धार होना कठिन ही नहीं वरन् असंभव होता है। किसी ने कहा भी है —

> मूर्खा वरा निष्कपटाः, साधवो ये भवन्ति ते।
> आलोचयन्ति गुर्वन्ते, यथा नाटक-पश्यकाः ॥

अर्थात् मूर्ख शिष्य भले ही हों पर कपटहीन होने चाहिएं। ऐसे शिष्य अपनी भूल को स्वीकार करने के लिये तैयार रहते है; जैसे नट-नटी का नाटक देखने वाले शिष्य।

चौभंगी के अनुसार दूसरे प्रकार के पुरुष वे होते हैं जो बाहर से तो सीधे व सरल दिखाई देते हैं किन्तु अन्दर से धूर्त, कपटी और छल से भरे हुए होते हैं। ऐसे व्यक्ति बड़े खतरनाक होते हैं। उनका आचरण तथा व्यवहार अत्यन्त शुद्ध व मित्रतापूर्ण दिखाई देता है किन्तु अवसर पाते ही वे स्वार्थ-सिद्धि के लिये अपने हितैषी मित्र का भी गला घोंटने में नहीं हिचकिचाते।

जो बाहर से सरल किन्तु अन्दर से वक्र होते हैं वे भले साधु पुरुष ही क्यों न हों, और कितनी भी उनकी बाह्य क्रिया धर्ममय क्यों न दीखती हो, उन्हें अपनी उस क्रिया का अथवा साधना का वास्तविक फल नहीं मिल सकता।

व्यवहार के क्षेत्र में और धर्म के क्षेत्र में भी मन की भावना का मूल्य है। कोई भी कार्य किया जाय उसकी अपेक्षा कार्य के पीछे भावना का महत्त्व अधिक होता है। जो काम शुद्ध हृदय से किया जाता है, देखने में भले ही वह छोटा हो किन्तु उसका फल महत्त्वपूर्ण होता है और बड़े से बड़ा कार्य भी अगर हीन भावना से किया जाए तो उसकी कीमत बड़ी नहीं होती।

हृदय की वक्रता भावनाओं को दूषित कर देती है, उसमें स्वार्थ तथा लोभ की कलुषता भर जाती है। ऐसा व्यक्ति बाहरी रूप में कितना भी सुन्दर क्यों न हो पर उसे कहा जाएगा:—

> मन मलीन तन सुन्दर ऐसे।
> विष-रस भरा कनक घट जैसे ॥

सुवर्ण के घड़े में अगर विष भरा हो तो उस घड़े का क्या मूल्य हो सकता है ! कुछ भी नहीं । आजकल अनेक साधु वेषधारी व्यक्तियों के विषय में सुना जाता है कि वे दिन में तो गलियों में घूम-घूमकर भिक्षा मांगते हैं किन्तु रात्रि को वेष परिवर्तन करके होटलों में जाकर अभक्ष्य का सेवन करते हैं और नाटक सिनेमा देखा करते हैं । इस प्रकार की वृत्ति महापाप है । ऐसे वक्राचारी स्वयं नरक के पात्र बनते हैं और जन समाज को भी पाप मार्ग पर चलाते हैं । वे दंभ और पाखंड का सेवन करके समस्त साधु-समाज को कलंकित करते हैं । साधु-वेश धारण करके भी धन की लालसा, विषयों की अभिलाषा न मिटी, रसलोलुपता का क्षय न हुआ तो इससे बढ़कर और विडम्बना क्या हो सकती है ।

सच्चा साधु वही है जो अपने पवित्र वेष के अनुरूप ही अपने हृदय को भी पवित्र बनाता है । परम विरक्ति और सन्तोष को हृदय में धारण करता है । मणि को तृणवत् समझता है । जिसके हृदय में किसी को छलने की भावना नहीं होती । प्रतिष्ठा और पूजा की आकांक्षा नहीं होती । जो निरन्तर अपनी आत्मा में रमण करता है और जगत् में रहता हुआ भी जल में कमल की तरह जगत् से अलिप्त रहता है । उसकी आत्मा दुनिया के छल-प्रपंचों में नहीं पड़ती । नीति में कहा भी है: —

तेरे भावे जो करे, भलो बुरो संसार ।
नारायण तू बैठ के, अपनो भवन बुहार ।।

अगर साधक अपना कल्याण करना चाहता है तो उसे अपनी आत्मा की शुद्धि करनी चाहिये । अपने हृदय को बाहरी कलुष से बचाना चाहिये । दूसरों को अपने वेष के द्वारा धोखे में न डालकर अपनी बुराइयों को ही हटाने का प्रयत्न चालू रखना चाहिये ।

कपटी और मन का वक्र व्यक्ति सदा दूसरों को भुलावे में डालने का प्रयत्न किया करता है और इस प्रयत्न में लगे रहने के कारण वह गुण ग्रहण नहीं कर पाता, न ही अपनी ज्ञान-वृद्धि कर सकता है ।

मन में कपट रखकर जो साधक गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहता है वह कभी सफल नहीं होता और न गुरु के उपदेश को सही रूप में समझ सकता है । उसके हृदय में विनय तथा श्रद्धा का अभाव होता है, इस कारण वह प्रत्येक बात में बाल की खाल निकालने का प्रयत्न करता रहता है । जो हृदय कोरे कागज की तरह स्वच्छ और उज्ज्वल होता है उसी पर

ज्ञान अंकित हो सकता है। किन्तु कपट का चिकनापन जब हृदय पर फिर जाता है तो गुरु कितना भी उपदेश क्यों न दें, कपटपूर्ण हृदय पर वह अंकित नहीं होता।

जहाँ सरलता होती है वहाँ अत्यन्त शान्ति और पवित्रता का वातावरण रहता है। निर्भयता तथा निश्चिन्तता का वास होता है। धोखेबाजी और ठगाई का भय नहीं रहता। मन निःशंक रहता है। इसके विपरीत, जहां कपट आ जाता है वहाँ मित्रों की मित्रता खटाई में पड़ जाती है और सभी मित्र उसे छोड़ जाते हैं यह कहते हुए:—

कबिरा तहां न जाइये जहां कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन स्वेत ।।

कहने का तात्पर्य यही है कि कपट सदा ही मित्रों के अथवा नातेदारों और रिश्तेदारों के बीच एक दीवार बनकर खड़ा हो जाता है और सारे स्नेहभाव को तिरोहित कर देता है। कपटी पुरुषों से सभी सावधान रहना चाहते हैं।

तीसरी तरह के पुरुष वे होते हैं जो बाहर से वक्र किन्तु अन्दर से सरल होते हैं। बाहर से वक्र होने का अर्थ उनकी कुटिलता से नहीं है। क्योंकि जिसका हृदय सरल होता है वह बाह्य रूप से भी किसी का अनिष्ट नहीं करता।

ऊपरी वक्रता हित-चिन्ता की दृष्टि से ही होती है। माता-पिता संतान में बुराइयाँ आते देखते हैं तो उसे डांटते हैं, आवश्यकता होने पर मारते-पीटते भी हैं। किन्तु उनका क्रोध संतान का अनिष्ट नहीं चाहता। शिक्षक पाठशाला में छात्रों को नाना प्रकार की सजा देते हैं। कभी-कभी अत्यन्त उद्दंडता करने पर बेंत से भी मारते हैं। किन्तु उनकी भावना छात्र को शिक्षित बनाने की ही होती है। इसी प्रकार गुरु शिष्य की भूलों के लिये उसकी भर्त्सना करते हैं तथा प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। वैद्य डाक्टर रोगी को नीरोग करने के लिये कड़वी दवाइयां देते हैं। कई बार तो मरीज के इन्कार करने पर दो-चार व्यक्ति बलपूर्वक उसे दवा पिलाते हैं, इन्जेक्शन लगाते हैं या कोई अंग सड़ जाने पर उसे काटते भी हैं। किन्तु इस सब कड़ाई के मूल में भलाई की भावना ही होती है।

पुराने विचारों के बुजुर्ग कुछ तेज स्वभाव के होते हैं और वे समाज की व्यवस्था ठीक रखने के लिये कड़े नियमों का निर्माण करते हैं। समाज

के उन नियमों का उल्लंघन करने पर वे समाज के सदस्य को व्यक्तिगत रूप से कभी हर्जाना देने को बाध्य करते हैं। वहिष्कृत व्यक्ति को प्रायश्चित्त करने पर या शुद्धि के कुछ आयोजन करने पर पुनः जाति में सम्मान प्राप्त करने का अधिकार देते हैं। उनका यह बांकापन सामाजिक आचरण को उत्तम बनाने के लिये तथा सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये होता है।

जो व्यक्ति ऊपर से वक्र और अन्दर से सरल होता है उससे किसी को खतरा नहीं होता। प्राचीन समय में, जब बात-बात में युद्ध हुआ करते थे, अनेक बार व्यक्ति अपने मर जाने की सम्भावना होने पर अपने प्रतिद्वन्द्वी को ही अपनी या अपने परिवार की रक्षा का भार सौंप देते थे। और जिसे वह भार सौंपा जाता था वह उसे अपना कर्तव्य समझकर बराबर वहन करता था।

महाभारत युद्ध में भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदि पांडवों के विरोधी थे। वे उनसे युद्ध करते थे फिर भी हृदय से पांडवों का हित चाहते थे तथा उनकी कल्याणकामना करते थे। वीरवर अर्जुन प्रतिदिन युद्ध आरम्भ होने पर बाणों के द्वारा ही अपने पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य को नमस्कार करता था।

तात्पर्य यही कि ऊपर से वक्र पुरुषों के द्वारा कभी किसी का अहित नहीं होता। बादाम की तरह वे ऊपर से कठोर होने पर भी भीतर से कोमल होते हैं और मनुष्यों को जिस तरह बादाम की गिरी लाभ पहुंचाती है, वे भी लाभ पहुंचाते हैं।

चौथे प्रकार के मनुष्य, जैसा कि चौभंगी में कहा गया है, 'वकेनामेगे वंके' अर्थात् भीतर बाहर से बांके रहते हैं। कुटिलता उनकी नस-नस में भरी होती है। वे कभी भी दूसरों का हित नहीं कर सकते। उनकी भावना अहर्निशि दूसरों को दुःख पहुचाकर अपना स्वार्थ साधन करने की होती है।

अन्दर तथा बाहर से वक्र व्यक्ति से कभी भलाई की आशा नहीं की जा सकती। दुर्जन व्यक्ति को कितना भी उपदेश क्यों न दिया जाय, वह साधु-पुरुषों की श्रेणी में नहीं आ सकता। नीतिकार चाणक्य ने कहा है:—

अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नानशतैरपि।
न शुद्धचति यथा भाण्डं सुराया दाहितं च तत् ॥

अर्थात् जिसके हृदय में कुटिलता है, विकारादि का मैल है, ऐसा दुष्ट नौ बार भी तीर्थस्नान करके शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा का पात्र आग में तपाने पर भी शुद्ध नहीं होता।

दुष्ट व्यक्ति न अपना उपकार करता है और न दूसरों का। वह जब तक जीवित रहता है तब तक दूसरों को दुःख व कष्ट पहुंचाता है और मरने के बाद नरक में जाकर स्वयं उन्हीं कष्टों को भोगता है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसे वक्र व्यक्तियों की संगति से सदा दूर रहे। उनसे न मित्रता रखे और न ही दुश्मनी मोल ले। क्योंकि दुष्ट व्यक्ति मित्र होने पर भी आस्तीन का सांप बनता है और शत्रु होने पर तो पूछना ही क्या है। हितोपदेश में भी बड़ी सुन्दर सीख दी गई है:—

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चांगारः शीतः कृष्णायते करम्॥

दुर्जनों के साथ मैत्री और प्रेम कुछ भी नहीं करना चाहिये। कोयला यदि जलता हुआ होता है तो स्पर्श करने पर जला देता है और यदि ठण्डा होता है तो हाथ काला कर देता है।

सज्जनो! आज हमने स्थानांग सूत्र की इस महत्वपूर्ण चौभंगी के आधार पर चार प्रकार के मनुष्यों के विषय में ज्ञात किया है। इस चौभंगी में प्रथम प्रकार के जो पुरुष बताए गए हैं वे साधु-पुरुष अत्यन्त उत्तम प्रकृति के होते हैं। वे सदा पर की भलाई तथा आत्म-कल्याण में प्रयत्नशील रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य को ऐसे सज्जन व्यक्तियों के संसर्ग में रहना चाहिये तथा उनके जीवन को आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना चाहिये। साधु-पुरुष एक नौका की तरह होते हैं जो स्वयं भी पार होते हैं और अपने आश्रय में रहने वालों को भी पार ले जाते हैं।

सज्जनों की संगति में रहने वाले व्यक्ति स्वयं भी इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और इसी लोक में मुक्ति के अधिकारी बनते हैं। सज्जन पुरुष कुपित होने पर भी किसी का अपकार नहीं करते। वे सदा दूसरों का भला करते हैं और शांति तथा प्रसन्नता का वातावरण बनाए रहते हैं।

Repose and cheerfulness are the badge of the gentleman.—एमर्सन

अर्थात् शान्ति और प्रसन्नता सज्जन पुरुष के लक्षण हैं।

दूसरी तरह के पुरुष ऊपर से सीधे और सरल दिखाई देते हैं किन्तु अन्दर से कपटी और कुटिल होते हैं। "मुंह में राम बगल में छुरी।" कहावत को चरितार्थ करते हैं। ऐसे व्यक्तियों से सदा मनुष्य को सावधान रहना चाहिये।

तीसरे प्रकार के पुरुष जो अभी मैंने बताए हैं ऊपर से वक्र अर्थात् टेढ़े दिखाई देते हैं किन्तु अन्दर से अति सरल व हितचिन्तक होते हैं। प्रायः गुरुजन इस कोटि में आते हैं। उनकी वक्रता से मनुष्य को घबराने की आवश्यकता नहीं है। उनकी ताड़ना व भर्त्सना को जीवननिर्माण का साधन मानकर अपनाने की आवश्यकता है।

सबसे निकृष्ट व्यक्ति चौथे प्रकार के होते हैं जो जीवन में किसी का शुभ नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों के समीप स्वप्न में भी जाने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है—

> बरु भल बास नरक कर ताता,
> दुष्ट संग जनि देहु विधाता।

नरक में जाना भला पर विधाता कभी दुष्ट की संगति न कराए।

इस पद्य से भी ज्ञात होता है कि अन्दर तथा बाहर से वक्र व्यक्ति कितने त्याज्य होते हैं। इसीलिये प्रत्येक मनुष्य को अत्यन्त सोच विचार कर तथा अच्छी तरह से परखकर ही किसी व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करना चाहिये।

हृदय की सरलता मानव को आलोक प्रदान करती है तथा आत्मा को अत्यन्त शांति की अवस्था में पहुंचा देती है। इसके विपरीत वक्रता कलुष है। वह मानव की आत्मा को दूषित करती हुई जन्म-मरण के चक्र को और भी गति प्रदान करती है।

प्रत्येक मनुष्य को सरलता का अवलम्बन लेते हुए अपने हृदय को शुद्ध तथा पवित्र बनाना चाहिये। भूल हो जाना बुरी बात नहीं है किन्तु उसे छिपाने का प्रयत्न करना बुरी बात है। अतः सरलतापूर्वक जीवन में होने वाली भूलों पर पश्चात्ताप करते हुए साधक को चौभंगी में बताए हुए सीधे मार्ग पर चलना चाहिये। सरलता ही जीवन को उन्नत बनाने का सबसे सीधा मार्ग है जो आत्मा को मोक्ष के द्वार पर पहुंचा सकता है।

[२]

सत्य-दीप

शास्त्रों में धर्म का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है। धर्म के अनेक अंग हैं तथा लक्षण भी विविध प्रकार के बताए गये हैं। किन्तु उन सबमें सत्य को प्रधानता दी गई है।

वास्तव में सत्य अत्यन्त महान् है और उसकी महिमा अनन्त है। सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है। कहा भी है कि—'धर्मः सत्ये प्रतिष्ठितः' सत्य ही महान् धर्म है अतः सब धर्म उसी के अंग हैं। शास्त्र में कितनी गहराई से सत्य का महत्त्व बताया गया है :—

'तं लोगम्मि सारभूयं, गम्भीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरगं मेरुपव्वयाओ सोमतरगं चंदमंडलाओ, दित्ततर सूरमंडलाओ, विमलतरं सरयनहयलाओ, सुरभितरं गंधमादणाओ।''

—प्रश्नव्याकरण, २–२४

अर्थात् सत्य लोक में सारभूत है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है। सुमेरुपर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक देदीप्यमान है। सत्य शरत्कालीन आकाश से भी निर्मल है और गंधमादन पर्वत से भी अधिक सौरभयुक्त है।

सत्य संसार में सर्वसम्मत धर्म है। वैसे विश्व में सैकड़ों पंथ और मत प्रचलित हैं। उन सबकी अनेक मान्यताएँ परस्पर विरोधी हैं। उन मान्यताओं को लेकर एक मत वाले दूसरे मत वाले से लड़ते-झगड़ते रहते हैं। प्रायः कलह बढ़ जाने पर खून की नदियाँ भी बह जाती हैं, किन्तु जहाँ सत्य के महत्त्व की बात सामने आती है वहाँ सभी पंथ एक स्वर से उसकी महानता का उद्घोष करते हैं।

अपने इस कथन की पुष्टि में, वर्तमान में प्रचलित मुख्य-मुख्य धर्मों के उल्लेखों पर ध्यान देना उपयुक्त होगा। जैन-शास्त्र का अत्यंत गंभीर तथा महत्त्वपूर्ण उद्धरण अभी-अभी आपके समक्ष रखा ही है। अब हम ऋग्वेद को देखते हैं। उसमें कहा है :—

'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते । तयोर्यत्सत्यं मतरह जीयस्तत् सोमोवति हन्त्यासत् ।'

ऋग्वेद, ७-१०४-१२

अर्थात्—बुद्धिमान् पुरुष जानता है कि सत्य और असत्य का विरोध है । सत्य को शक्ति प्राप्त होती है और असत्य का नाश होता है ।

उपनिषद् में कहा है :—

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ।

—बृहदारण्यक उपनिषद्

अर्थात् जो निश्चय रूप से धर्म है वही सत्य है। इसलिये सत्य बोलने वाले के लिये कहते हैं कि वह धर्म की बात करता है और धर्म की बात कहने वाले को सत्य बोलने वाला कहते हैं । इसलिये यह दोनों एक समान हैं ।

महाभारत में सत्य की महिमा बड़े उत्तम शब्दों में कही गई है :—

सर्व-वेदाधिगमनं, सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यस्यैव च राजेन्द्र ! कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।

अर्थात्—समग्र वेदों का पठन और समस्त तीर्थों का स्नान, सत्य के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं होता ।

इस कथन से ज्ञात होता है कि आन्तरिक धर्म कितना महत्त्वपूर्ण होता है और बाह्य क्रियाकांड कितना गौण । दोनों में महान् अन्तर है । बाह्य क्रियाकांड में यदि सत्य और धर्म का प्राण नहीं है तो वह निर्जीव कलेवर से क्या बढ़कर है ?

सिक्खों के धर्मशास्त्र में भी लिखा है :—

कहे नानक जिन सच तजिया,
कूड़े लागे उनी जन्म जूए हारिया ।

—रामकली मोह. ३, अनन्द

गुरु नानक के कथनानुसार जिन लोगों ने सत्य को त्यागकर झूठ की शरण ली, उन्होंने अपना जन्म जुए में हार दिया है ।

भारतीय धर्मों के अतिरिक्त मुस्लिम-शास्त्रों में भी आदेश दिया गया है कि सत्य का त्याग मत करो :—

"वला तसविसुलहक्का विल्वातले व तकमतुल हक्का।"

अर्थात् सत्य को छिपाओ मत। सत्य महापराक्रमी और प्रचंड शक्तिमान् होता है। सूर्य के सामने जिस तरह अन्धकार विलीन हो जाता है उसी तरह सत्य के सामने असत्य गायब हो जाता है।

ईसाइयों की धर्म-पुस्तक इंजील में भी सत्य के विषय में कहा है कि वह शाश्वत है। उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। इसके विपरीत असत्य क्षणिक तथा अस्थायी होता है।

The lip of truth shall be established for ever but a lying tougne is but for moment.

—इंजील

अर्थात् सत्य की जिह्वा अटल रहेगी, किन्तु झूठ की जिह्वा केवल क्षण भर के लिये होगी।

बंधुओ! धर्म अनेक हैं। किन्तु सभी ने सत्य को अपना सर्वोपरि सिद्धान्त माना है और सभी ने सत्य की महत्ता बताते हुए उसे आत्मा का स्वाभाविक तथा परमपवित्र धर्म माना है। अनेक प्रकार से सत्य की पुष्टि की जा सकती है। किन्तु मैंने तो आपको कतिपय धर्मों के उदाहरण ही दिये हैं। इनसे ही आपको ज्ञात हो जाएगा कि जैनधर्म, मुस्लिमधर्म, सिक्खधर्म, ईसाईधर्म, वेद, उपनिषद, आदि सभी सत्य को कितना महान् और सिद्धि के लिये अनिवार्य साधन मानते हैं।

मनुष्य किसी भी प्रकार की साधना के लिये जब उद्यत होता है तो उस साधना के अनुरूप कुछ मर्यादाएँ उसे स्वीकार करनी पड़ती हैं। और उन मर्यादाओं से बल प्राप्त करता हुआ साधक अपनी साधना में अग्रसर होता है तथा अंत में सफलता प्राप्त करता है। मर्यादाओं के अभाव में मनुष्य के हृदय में संकल्प जागृत नहीं होता और साधना सफल नहीं हो पाती।

धार्मिक जीवन आरम्भ करने पर साधक जब धर्मसाधना के लिये उद्यत होता है तो उसे कुछ मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक होता है। जैन-शास्त्रों के अनुसार तो मर्यादाओं का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें श्रावक के लिये और साधु के लिये भी सम्पूर्ण आचार-प्रणाली, का समावेश हो जाता है किन्तु जो अन्य समस्त मर्यादाओं का प्राण हैं और उन सभी के आधार पर जिनका निर्माण हुआ है वे जैनशास्त्र की परिभाषा में 'मूल गुण' कहे जाते हैं

मूलगुण पांच हैं—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य तथा (५) अपरिग्रह।

यद्यपि यह पाँचों 'मूलगुण' अपने आप में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं किन्तु गंभीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी का पालन करने में सत्य की आवश्यकता सर्वप्रथम है। असत्य भाषण का मूल कषाय होता है और जहाँ कषाय होगा वहाँ हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह सभी दोष पाए जाएंगे।

सत्य का आचरण करने के लिये आवश्यक नहीं कि मनुष्य साधु बन जाय, या श्रावक के बारह व्रत ही धारण करे। एक साधारण व्यक्ति और चोर या हत्यारा भी सत्य का पालन कर सकता है। सिर्फ़ एक सत्य का आलम्बन लेने के कारण ही उस व्यक्ति का जीवन निकृष्ट से उत्कृष्ट बन सकता है।

एक बार भगवान् महावीर के समवसरण में अनेक गृहस्थ, त्यागी तथा वैरागी महापुरुष बैठे उनके धर्मोपदेश का श्रवण कर रहे थे। संयोगवश एक चोर भी वहाँ आ बैठ गया और प्रवचन सुनता रहा। प्रवचन के पश्चात् समस्त व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर चले गए। किन्तु भाव-विह्वल चोर वहीं बैठा रह गया। एक सन्त ने उसे बैठे देखकर पूछ लिया—भाई! प्रवचन सुनकर तुमने क्या ग्रहण किया?

चोर बोला—महाराज! मैं एक चोर हूँ अतः भगवान् की अमृत-मयी वाणी सुनकर भी क्या कर सकता हूँ? चोरी तो छोड़ सकता नहीं अन्यथा मेरा परिवार भूखा मर जाएगा।

सन्त मनोविज्ञान के ज्ञाता थे। उन्होंने चोर की निष्कपट आत्मा को पहचान लिया और उसे उन्नत बनाने की भावना से बोले—बन्धु! चोरी नहीं छोड़ सकते हो तो न सही, तुम झूठ बोलना छोड़ सकते हो? उसी को छोड़ दो। यह भी बड़ा भारी त्याग है।

चोर अत्यन्त प्रसन्न होकर बोला—भगवन! झूठ बोलना तो मैं सहज ही छोड़ सकता हूँ। प्रभु की और आप की साक्षी में मैं असत्य भाषण का त्याग करता हूँ। मैं प्राण-प्रण से इस नियम का पालन करूँगा। यह कहकर वह सत्य बोलने का नियम अंगीकार करके वहाँ से चला गया।

चोर ने सत्य बोलने का नियम ले लिया और जब उसके हृदय में

सत्य प्रतिष्ठित हुआ तो उसके अन्त:करण में हिंसा से घृणा और दया के प्रति आकर्षण भी पैदा हो गया। वहुत दिनों तक वह कहीं चोरी करने नहीं गया। यह सोचकर कि जिसकी चोरी करूँगा संभवत: मुझे उसे मार-पीट कर आना पड़ेगा और अगर मार-पीट न भी करनी पड़ी तो जो धन मैं लाऊँगा उसके अभाव में वह व्यक्ति न जाने कितने दिन दुखी और व्याकुल रहेगा।

किन्तु जब उनके घर का खाद्यान्न चुक गया और परिवार के भूखे मरने की नौवत आ गई तो उसने सोचा-आज "राजमहल में ही चोरी करूँ। राजमहल से मैं आवश्यकता के अनुसार ही धन लाऊँगा और उतने से धन की कमी होने पर भी राजा के खजाने में क्या फ़र्क पड़ेगा ? राजा को थोड़े से धन के अभाव में कोई कष्ट भी न होगा।"

यह सोचकर चोर रात को राजमहल में चोरी करने के इरादे से चला। रास्ते में उसे राजा श्रेणिक स्वयं तथा उसके मंत्री अभयकुमार वेष परिवर्तन किये हुए मिले। वे प्राय: रात्रि के समय प्रजा की स्थिति जानने के लिये निकला करते थे।

चोर को देखते ही राजा ने पूछा—कौन हो तुम ? चोर असमंजस में पड़ गया। उसी समय अपना नियम याद आ गया और वह असत्य भाषण न कर सका। साहस करके वोला—चोर हूँ।

उत्तर सुनकर राजा और मंत्री मुस्कराते हुए चल दिये। उन्होंने समझा-उपहास करता है। यह चोर कैसे हो सकता है ? क्या चोर अपने को चोर कहेगा ?

चोर राजमहल में प्रवेश कर गया। खजाने में चार रत्नों के डिब्बे थे। उनमें से सिर्फ़ दो ही अपनी जरूरत पूरी करने को काफ़ी समझकर उठा लाया।

संयोगवश लौटते समय भी चोर को राजा श्रेणिक और अभयकुमार मंत्री मिल गए। उन्होंने फिर पूछा—कहाँ गए थे तुम ?

चोर वोला—चोरी करने।

क्या चुरा कर लाए हो ?

चोर ने निर्भय होकर कह दिया—राजमहल में चोरी करने गया था, जवाहरात के दो डिब्बे चुरा कर लाया हूँ।

राजा ने सोचा—वास्तव में यह कोई सिरफ़िरा व्यक्ति दिखाई देता है, मज़ाक कर रहा है।

राजा और मंत्री चुपचाप महलों में लौट गए।

प्रातःकाल जब राजा का खज़ांची ख़ज़ाने में पहुंचा तो उसने देखा कि जवाहरात के चार डिब्बों में से दो डिब्बे गायब हैं। उसने इस अवसर का लाभ उठाने के लिये दो डिब्बे अपने घर पहुँचा दिये। फिर राजा के पास जाकर कहा—महाराज! खजाने में चोरी हो गई है। जवाहरात के चार डिब्बे किसी ने चुरा लिये हैं।

राजा सुनकर चकित हुआ। पर उसे फ़ौरन याद आया कि रात को जो व्यक्ति मिला था वह वास्तव में ही चोर था। किन्तु वह बड़ा सत्यवादी भी था। उसे पकड़ना कोई मुश्किल नहीं होगा।

यह सोचकर श्रेणिक ने राज्य में घोषणा करा दी कि जिस व्यक्ति ने रात्रि को खजाने में चोरी की है वह दरबार में उपस्थित हो जाए।

शहर के अन्य लोग हँसने लगे। चोर इस तरह पकड़ा जाता है क्या? किन्तु राजा को विश्वास था कि चोर साधारण चोर नहीं वरन् एक महान् आत्मा है और वह अवश्य आएगा।

चोर ने जब राजघोषणा सुनी, तो सोचा—मेरे सत्य की यह एक और कसौटी है। मैं उसमें अनुत्तीर्ण क्यों होऊँ? सत्य की जिस शक्ति से रात को चोरी कर सका, जिसने मेरी रक्षा की, वही शक्ति अब भी मेरी रक्षा और सहायता करेगी। चोर दरबार में उपस्थित हो गया।

राजा ने प्रश्न किया—क्या तुमने ही चोरी की है? तो बताओ क्या-क्या चुराया है।

चोर ने महाराज को पहचान लिया। वह बोला—अन्नदाता! मैंने तो रात को ही आपसे निवेदन कर दिया था कि मैं राज्य के खज़ाने से जवाहरात के दो डिब्बे चुराकर लाया हूँ।

राजा ने कहा—मगर खजाने में से तो चार डिब्बे गायब हैं। तुम दो ले गए तो शेष दो कहाँ गए?

चोर के हृदय में सत्य का बल था और चेहरे पर सत्य की उज्ज्वलता थी। वह स्पष्ट बोला—महाराज! मैं तो दो ही डिब्बे ले गया हूँ। शेष दो के विषय में मुझे ज्ञात नहीं है। मैं चोरी करता हूं पर असत्य नहीं बोलता।

एक बार मैंने भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुना। उससे मेरी आँखें खुल गईं। परिवार की आजीविका एवं प्राणरक्षा का अन्य साधन न होने से चोरी करना तो छोड़ नहीं सका किन्तु असत्यभाषण का त्याग कर चुका हूँ। अपने सच बोलने के नियम के कारण मैंने रात को ही आपसे सच बात कह दी थी और अभी भी आपके समक्ष उपस्थित हो गया हूँ।

राजा को चोर की बातों पर पूर्ण विश्वास हो गया और उसने जान लिया कि बाकी दो डिब्बे खजांची ने ही चुराए हैं।

कहा जाता है कि चोर की सत्यवादिता के कारण राजा ने उसे अपना कोषाध्यक्ष बना दिया और पुराने खजांची को चोरी करने तथा झूठ बोलने के कारण पद से हटाते हुए सजा दी।

इस कथानक से स्पष्ट हो जाता है कि सत्य का पालन कोई भी व्यक्ति कर सकता है। कोई व्यक्ति कितना भी निकृष्ट क्यों न हो, उसके हृदय में सत्य का बीजारोपण होते ही वह बीज विराट् बनता जाता है और स्थानाभाव के कारण अन्य दुर्गुण उसके हृदय से निकलते चले जाते हैं। स्पष्ट है कि मानव सत्य के एक छोटे से सूत्र को पकड़कर सिद्धिरूपी मंजिल तक पहुँच जाता है। शेख सादी ने कहा है :—

"सत्य ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है। मैंने सत्य के मार्ग पर चलनेवाले को कभी पथभ्रष्ट होते नहीं देखा।"

वास्तव में जहाँ सत्य विद्यमान रहता है, वहाँ छल-कपट, ईर्ष्या आदि कदापि नहीं टिक सकते। जब तक सत्यवादी के हृदयप्रदेश में सत्य सजग प्रहरी की तरह डटा रहता है, बुराइयाँ उसमें प्रवेश करने का साहस नहीं कर सकतीं। यही नहीं, पहले से प्रविष्ट बुराइयाँ भी बोरिया-बसना बाँधकर चल देती हैं, जिस प्रकार चोर के सत्य का नियम लेते ही चोरी, हिंसा तथा निर्बलता की भावनाओं ने उसके मन में से प्रयाण कर दिया।

इसके लिए अनिवार्य शर्त यही है कि मानव को दृढसंकल्प होकर सत्य को अपनाना चाहिये। अगर मन में दुर्बलता आ गई तो बुराइयों को पुनः प्रवेश करने में विलम्ब नहीं लगता।

सत्य केवल वचन में ही नहीं वरन मन में तथा क्रिया में भी होना चाहिये। आत्मा के कल्याण के लिये सरलभाव से जो वचन से कहा जाता है वह सत्य है, जो मन से सोचा जाता है वह सत्य है तथा जो काया के द्वारा

क्रिया के रूप में परिणत होता है वह भी सत्य है। इसीलिये सत्य के विषय में भगवान् महावीर ने कहा है—"मणसच्चे, वयसच्चे, कायसच्चे।"

सिर्फ वचन से बोला हुआ सत्य जीवन को उन्नत नहीं बनाता जब तक कि मन में सत्य न हो और उसके अनुरूप क्रिया न हो। अतएव जो मन में सोचा जाए वही वाणी से बोला जाना चाहिये और वाणी से बोले जाने पर ठीक उसी के अनुरूप आचरण भी करना चाहिये। यही महात्मा के लक्षण होते हैं। कहा भी गया है :—

मनस्येकं वचस्येकं, काये चैकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, काये चान्यद् दुरात्मनाम्॥

धर्मात्मा पुरुष के मन, वचन तथा तन तीनों में एकरूपता रहती है। इसके विपरीत दुरात्मा व्यक्तियों के मन में कुछ और ही खिचड़ी पकती है, वचन से वह कुछ और कहता है तथा तन से इन दोनों के विपरीत धर्मात्माओं की तरह आचरण करने का ढोंग करता है। इन तीनों की विभिन्नता दुरात्माओं का लक्षण है। और इसीलिये वे प्रकाश से अंधकार की ओर चलते हैं। इसके विपरीत महात्मा अन्धकार से प्रकाश की ओर चलते हैं। उनका जीवन उन्नत बनता जाता है। स्थानांग सूत्र की एक चौभंगी में भी इसी आशय को लेकर सत्य के चार प्रकार बताए गए है। चौभंगी इस प्रकार है :—

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) काउज्जुयया (२) भासुज्जुयया (३) भावुज्जुयया (४) अविसंवायणा-जोगे।

ऋजुता का अर्थ सरलता है। ऋजु ही ऋजुक है। कायिक चेष्टाओं को कुटिल मार्ग से विमुखकर लेना तथा यथार्थ मार्ग पर ले आना काय-ऋजुकता कहलाती है।

इसी प्रकार सत्य बोलने में प्रवृत्त होना भाषा ऋजुकता, कषायों को त्याग कर मन को सरल बनाना भाव ऋजुकता तथा अपनी कही हुई बात को उसी प्रकार क्रियापरिणत करना-उसको नहीं बदलना अविसंवादन है।

बंधुओ! इसी विषय को अब कुछ विस्तार से आपको बताना चाहूँगा। सर्वप्रथम हम 'भावऋजुकता' अर्थात् मन की सरलता, दूसरे शब्दों में मन की सत्यता को लेंगे। क्योंकि सत्य की पहली कड़ी मानसिक पवित्रता और दूसरी कड़ी वचन की पवित्रता है।

भगवान् महावीर ने वाणी के सत्य को तो महत्त्व दिया ही है किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मन की पवित्रता तथा सत्यता को दिया है। जब तक मन में सत्य नहीं आता, मन में पवित्र विचार और संकल्प पैदा नहीं होते, मन सत्य के प्रति दृढ़ नहीं बनता, तब तक वाणी का सत्य, सत्य नहीं माना जाता। जब तक मन में छल, कपट और झूठ भरा रहता है, अहंकार का सागर हिलोरें लेता रहता है, तब तक वाणी से सत्य बोला जाने पर भी वह सत्य जैनधर्म की भाषा में असत्य ही माना जाता है। मानसिक सत्य के अभाव में वाचिक सत्य टिक नहीं पाता।

सत्य का मूल सरलता है और असत्य का मूल क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषाय है। इसलिये मन में कषाय होने पर उसके बीज से सत्य-वृक्ष नहीं फलता। कषायों के मूल से तो असत्य का वृक्ष ही पनप सकता है।

मनुष्य जब लोभ-लालच में फंस जाता है, वासना के नशे में चूर हो जाता है तब वह अपने जीवन की पवित्रता तथा उसके महत्त्व को भूल जाता है। उसे विवेक नहीं रहता कि वह साधु है अथवा श्रावक। लोभ और लालच के वश में होकर मनुष्य जो यथार्थ भाषण करता है वह भी वास्तव में असत्य है। क्रोध के वशीभूत होकर बोला गया वचन भी असत्य माना गया है। इसी प्रकार भय और उपहास से प्रेरित वाणी भी असत्य की ही कोटि में समाविष्ट होती है। भगवान् महावीर ने कहा है—

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडग त्तिय।
वाहियं वावि रोगित्ति तेणं चोरे त्ति नो वए॥

—दशवैकालिक ७-१२

अर्थात् क्रोध के वशीभूत होकर किसी काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी अथवा चोर को चोर कहना सत्य होने पर भी पीड़ा पहुंचाने का कारण है, अतः ऐसा सत्य भी नहीं बोला जाना चाहिये।

साधारण तौर पर लोग आन्तरिक धर्म की तो उपेक्षा करते हैं और बाहरी क्रियाकाण्ड को अधिक महत्त्व देते हैं। वे भूल जाते हैं कि तन से की जाने वाली क्रिया में मन यदि साथ नहीं होता तो वह क्रिया निर्जीव की भांति होती है। इसके विपरीत, शरीर से तपस्या, पूजा, प्रार्थना आदि न कर सकने वाले मनुष्य का मन यदि पवित्र है तो वह अपनी आन्तरिक पवित्रता के द्वारा ही कर्मों का नाश कर सकता है। किसी कवि ने कहा भी है:—

भोग को बहाए कहा, जोग को जगाए कहा
तन को तपाए कहा, वस्त्र गेरु रंगा है।
जीवा ! जग माँहि ऐसे भेख धरे होत कहा,
होत मन शुद्ध तब गेहि माँहि गंगा है।

वास्तव में जिसका मन सरल होता है, जिसके हृदय में सत्य निवास करता है, उसे न किसी अन्य तपस्या की आवश्यकता है और न किसी प्रकार का वेष धारण करने की। तुलसीदास ने कहा है—

धरमु न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुरान बखाना।
सत्य सब सुकृत सहाई, वेद पुरान विदित मुनि भाई ।।

जैनागम में सत्य को भगवान् कहा है—"तं सच्चं खु भयवं" गांधी जी ने भी सत्य को ही परमेश्वर माना है। उन्होंने कहा है—"परमेश्वर सत्य है यह कहने की बजाय सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना और भी उपयुक्त है।"

सारांश यही है कि सत्य रूप परमेश्वर की उपासना मन के मंदिर में ही अधिक सुन्दर ढंग से होती है। मन-मन्दिर में सत्य की स्थापना हो जाने पर वचन और क्रिया उसकी आराधना तथा पूजा सही तरीके से कर सकते हैं। सत्य बाहर से नहीं आता। वह आत्मा के अन्दर ही एक स्वाभाविक शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है। सिर्फ उसे पहचानने की और उस पर दृढ़ रहने की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के अन्तःकरण से अन्यत्र कहीं भी सत्य प्राप्त नहीं होता कि उसे बटोर लाया जाय। जब अंतःकरण सत्य-मय हो जाता है तो स्वयं ही मनुष्य का विकास होने लगता है और कषाय तथा मिथ्यात्व धीरे-धीरे किनारा करने लगते हैं। जब साधक की दृष्टि सत्यमयी हो जाती है तो उसके द्वारा जो भी ग्रहण किया जाता है वह सम्यक् होता है। और जब दृष्टि में मिथ्यात्व होता है तो वह जो भी ग्रहण करती है वह मिथ्या रूप में परिणत हो जाता है।

जो शास्त्र मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के लिये मिथ्याशास्त्र के रूप में परिणत होते हैं वही शास्त्र सम्यक् दृष्टि के लिये सम्यक् शास्त्र हो जाते हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—"अगर साधक की दृष्टि सत्यमयी है, वह सम्यक् दृष्टि है और सत्य के प्रकाश में उसने अपने मन के द्वार उघाड़ रखे है तो उसके लिये शास्त्र सम्यक् शास्त्र हैं और मिथ्यादृष्टि के लिये वही शास्त्र मिथ्या शास्त्र।"

भगवान् महावीर के सम्पर्क में गौतम, सुधर्मा जम्बू स्वामी आदि

आए। उन्होने भगवान् के संसर्ग मे अपने जीवन को महान् बनाया किन्तु दूसरी ओर गोशालक छह वर्ष तक निरन्तर उनके साथ रहा पर उसने क्या लाभ उठाया ? दुबारा मिला तो भगवान् को मारने के लिये तैयार हो गया। दो सन्तों को तो भस्म भी कर दिया। इससे साबित हो गया कि भगवान् महावीर गौतम आदि को जिस रूप में दिखाई दिये, गोशालक को नहीं। गौतम स्वामी जंबू स्वामी आदि अनेकों ने भगवान् के संसर्ग से मोक्ष पाया परन्तु गोशालक उसे न पा सका।

इसलिये प्रत्येक पुरुष को, अगर वह अपने जीवन को निर्दोष बनाना चाहता है, अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता है, सर्वप्रथम आत्मा में सत्य का प्रकाश करना होगा और उस प्रकाश के सहारे उन्नति के मार्ग पर चलना होगा। अन्तःकरण को सरल बनाना होगा जैसा कि चौभंगी में भाव-ऋजुकता कहकर बताया गया है।

अब हम भाषा-ऋजुकता पर आते हैं। इसका अर्थ है वचनों में सरलता। सरलता का ही अर्थ सत्यता है। मन के भावों में सत्यता आने पर वचनो मे भी सत्यता आना आवश्यक है।

मनुष्य को अनन्त पुण्य का उदय होने पर जिह्वा मिलती है और उसके पश्चात् भी अनंत पुण्य का और उदय होने पर बोलने की शक्ति प्राप्त होती है। यह जानना अत्यन्त कठिन है कि मनुष्य को बोलने की शक्ति प्राप्त करने के लिये कितना मूल्य चुकाना पडा है।

विश्व में अनंतानंत प्राणी हैं जिन्हें केवल एक स्पर्शेन्द्रिय ही प्राप्त है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं। विभिन्न योनियों में एक ही इन्द्रिय को प्राप्त करने के बाद अतिशय पुण्य के प्रभाव से जीव द्वीन्द्रिय की योनि पाता है। उस समय उसे जिह्वा प्राप्त तो होती है किन्तु भाषण करने की शक्ति प्राप्त नहीं होती, स्पष्ट और सार्थक वचन बोलने की शक्ति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में तथा समस्त पंचेन्द्रियों में भी नहीं पाई जाती। हाथी, घोड़े, शेर आदि शक्ति व शरीर की आकृति के लिहाज से तो मनुष्य से बहुत बढ़-चढ़कर होते है किन्तु वे मनुष्य की भांति स्पष्ट भाषण नही कर सकते। वचनों का आदान-प्रदान सिर्फ मनुष्य ही कर सकता है।

तो जब असंख्य योनियों में भटकने के बाद अनंत पुण्य के उदय से मनुष्य भाषण करने की शक्ति प्राप्त करता है तो उस शक्ति का उपयोग क्या मनुष्य को मिथ्या कटुक कपटपूर्ण और दूसरों को दुख पहुंचाने में करना

चाहिये ? ऐसा करने से तो परिणाम यह होगा कि उन विभिन्न प्रकार की असंख्य योनियों में भटकने का क्रम पुनः शुरु हो जाएगा।

अगर मनुष्य विवेकवान् है तो अपनी इस बहुमूल्य शक्ति को यों ही नहीं गंवाएगा। बल्कि अभी तक चुकाई हुई कीमत ही नहीं, उससे भी अधिक वसूल करेगा। वाणी की इस शक्ति के द्वारा वह प्रकृष्ट पुण्य का उपार्जन करने की कोशिश करेगा।

शास्त्रों में पुण्य के नौ भेद किये गए हैं। वचन-पुण्य भी उनमें से एक गिना गया है। इससे स्पष्ट है कि अगर हम समझ-बूझकर भाषा का उपयोग करें तो उसके द्वारा महान् पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं। शास्त्रकारों ने भाषा के सम्यक् प्रयोग पर बहुत बल दिया है। सत्यव्रत का निर्माण ही इसीलिये किया है कि मनुष्य भाषा की सचाई का ध्यान रखे और कभी मिथ्या भाषा का प्रयोग न करे। सत्य की उपासना करने वाले साधक की सुविधा के लिये शास्त्रों में भाषा का चार प्रकारों में वर्गीकरण किया गया है—(१) सत्य भाषा; (२) असत्य भाषा (३) मिश्र भाषा तथा (४) व्यवहार भाषा।

इन चार प्रकार की भाषाओं में से असत्य तथा मिश्र यानी कुछ सत्य कुछ असत्य भाषा सर्वथा त्याज्य है। सज्जन पुरुष इन दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग नहीं करते। वे सत्य भाषा बोलते हैं या व्यवहार-भाषा बोलते हैं। व्यवहार-भाषा सत्य या असत्य नहीं मानी जाती। जैसे कोई कहता है— "इस रास्ते से जाओ! यह मार्ग अजमेर जाता है।" यद्यपि मार्ग कहीं जाता-नहीं, पथिक ही उसपर आते-जाते हैं, फिर भी आम तौर पर ऐसा कह दिया जाता है और यह असत्य नहीं माना जाता।

सत्पुरुष ऐसी भाषा भी नहीं बोलते जो सत्य होने पर भी कर्कश या पीड़ाजनक होती है। क्रोध के आवेश में बोली हुई सत्य भाषा भी सुनने वाले के हृदय में तीर का कार्य करती है और जन्म-जन्मान्तर तक वैर बंधने का कारण बन जाती है। भगवान् महावीर स्वामी का कथन है—

मुहुत्तदुक्खा उ हवन्ति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया-दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

—दशवैकालिक अ. ९, उ. ३. गा. ७

अर्थात् लोहे के कांटे भी शरीर में चुभ जाएं तो कुछ समय तक ही व्यथा पहुंचाते हैं और कुशल व्यक्ति उन्हें बिना विशेष कठिनाई के निकाल देते हैं। किन्तु दुर्वचन के कांटे हृदय को इस तरह बींध देते हैं कि उनका निकलना कठिन हो जाता है और वे जन्म जन्मान्तर तक वैर की परम्परा को कायम कर देते हैं। ऐसे वचन नरकादि नीच गतियों में ले जाने के कारण अत्यन्त भयजनक होते हैं।

जो साधक वाणी के महत्त्व को समझ लेते हैं वे कभी भी इस प्रकार की सन्तापदायक, और पापयुक्त वाणी का प्रयोग नहीं करते। छल, कपट पूर्वक यहाँ तक कि परिहास में भी वे कटु सत्य अथवा असत्य भाषा के प्रयोग से बचते हैं।

असत्य भाषण का प्रभाव कभी-कभी बहुत दूरगामी और अनर्थजनक होता है। उसके फलस्वरूप पाप की लम्बी परम्परा चल पड़ती है। उससे असत्यभाषी का ही नहीं, दूसरों का भी घोर अहित होता है। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

क्षीर कदम्बक उपाध्याय के तीन शिष्य थे—नारद, पर्वत और वसु। उपाध्याय के स्वर्गवासी होने के पश्चात् एक बार पर्वत और नारद में 'अज' शब्द के अर्थ पर मतभेद हो गया। नारद अपने गुरु भाई पर्वत से मिलने आया। पर्वत उस समय अपने शिष्यों को पढ़ा रहा था। उस समय एक वाक्य आया "अजैर्यष्टव्यम्" पर्वत ने उसका अर्थ छात्रों को बताया—अजों से अर्थात् बकरों से यज्ञ करना चाहिये।

नारद यह सुनकर बोला—भाई! ऐसा अर्थ करने से घोर अनर्थ होगा। वास्तव में गृहस्थों के घर यज्ञों में अथवा अन्य क्रियाकांडों में तीन वर्ष पुराने जौ, जिनमें उगने की शक्ति नहीं रह जाती, होम के काम आते हैं। अज का अर्थ वही जौ है, बकरा नहीं।

बात बढ़ती गई और तब दोनों ने अपने सहाध्यायी गुरु-भाई राजा वसु से निर्णय कराने का निश्चय किया। साथ ही नारद के मना करने पर भी पर्वत ने ऐसी कठोर शर्त रखी कि जो हममें से झूठा साबित होगा उसे अपनी जीभ कटवानी पड़ेगी।

इस बीच पर्वत जान गया कि नारद की बात सत्य है, मेरा पक्ष गलत है। मौत को सामने देखकर वह काँप उठा। किन्तु पर्वत की माता को जब यह ज्ञात हुआ तो बोली—तूने शर्त रख कर महान् गलती की है पर

मैं राजा वसु पर दवाव डालकर तेरे पक्ष में फैसला दिलवा दूंगी। उसकी माता ने यही किया और वसु को इसके लिये तैयार कर लिया।

नियत समय पर दोनों विद्वान् राजा वसु के समक्ष उपस्थित हुए। राजा वसु असंदिग्ध रूप से जानता था कि नारद का पक्ष सही है किन्तु पर्वत की माता के दवाव के कारण उसने पर्वत के पक्ष में फैसला देते हुए, मिश्र भापा का प्रयोग करते हुए कहा 'अज' शब्द के दो अर्थ होते हैं बकरा भी और तीन वर्ष पुराना शालि आदि भी जो बोने पर उग नही सकता।

कहते है– गुरु-पुत्र के बचाव के लिये वसु के मुँह से ऐसी अनर्थकारी भापा का प्रयोग सुनकर देवता कुपित हो गए और उसका सिंहासन, जो सत्य के प्रभाव से अधर रहा करता था, नीचे आ गया। अपने असत्य भापण के कारण वसु मरकर सातवें नरक में गया। इसके साथ ही उसके असत्य ने महाव्यापक रूप ग्रहण कर लिया और उसके फलस्वरूप हजारों वर्षों से जो अनेकानेक पशु मारे जा रहे हैं उसके दायित्व का भी कारण वना। वसु ने सिद्धान्त, संस्कृति एवं धर्म के विपय में असत्य का प्रयोग किया।

इस कथानक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मन की तरह ही वचन में भी एकरूपता न होने पर मन की शुद्ध भावना का भी मूल्य नहीं रह जाता। मन में सत्य का ज्ञान होने पर भी वचन में असत्य आ जाए तो वह कर्म-बन्ध का कारण बन जाता है, चाहे वह लोभ-लालच, क्रोध, ईर्प्या से अथवा राजा वसु की तरह किसी के दवाव में आकर ही क्यों न बोला गया हो। राजा वसु को सत्य वस्तुस्वरूप का परिज्ञान था। किन्तु पर्वत की माता के दवाव में आकर उसने असत्य भापण किया और परिणाम यह हुआ कि उसे मरकर नरक में जाना पड़ा।

चौभंगी का तीसरा पद यह है 'काय-ऋजुकता" अर्थात् काया से भी सत्य व सरलतामय क्रियाओं का करना। जो मन से सोचा जाता है, और वाणी से वोला जाता है उसीको अपने जीवन में उतारना, उसीके अनुरूप आचरण करना काया की सचाई है। प्रत्येक व्यक्ति के हाथ पैर तथा शरीर की समस्त चेष्टाएं मन और वचन की ऋजुता का अनुकरण करने वाली होनी चाहिये।

सत्य मन, वचन तथा काय, इन तीनों की शक्तियों को एक ही सूत्र में पिरो देने से ही वास्तव में पूर्ण सत्य का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसके विपरीत मन में कुछ चल रहा हो और वचन से कुछ और ही प्रकट किया जा रहा हो तथा जब आचरण का समय आवे तब कुछ और ही रूप ग्रहण कर

लिया जाए तो समझना चाहिये कि वहाँ सत्य का अंश भी नहीं है।

जो पुरुप सत्य को सम्यक् रूप से अपनाता है वह मन में विचारा हुआ वचन से कहता है और वचन से कहे हुए का पालन शरीर से करता है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो सहज ही विदित होगा कि अपने वचन का पालन करने के लिये अनेकानेक महान् व्यक्तियों ने अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया। सत्य की रक्षा के लिये अपनी अमूल्य काया की भी आहुति दे दी।

'इमेन्युअल डनन' नामक एक आठ वर्ष के बालक ने भी सत्य की रक्षा के लिये अपने प्राण दे दिये थे। सन् १८५१ ई० में सेम्युअल नोर्टन नामक एक व्यक्ति ने किसी का खून कर दिया। इमेन्युयल उसी का दत्तक पुत्र था और उसने अपने पिता सेम्युअल को हत्या करते हुए देख लिया था।

पुलिस ने जब इस आठ वर्षीय बालक को बयान के लिये बुलवाया तो उसके पिता सेम्युअल ने उसे झूठा बयान देने की आज्ञा दी। किन्तु पुत्र ने अस्वीकार करते हुए कहा—मैं झूठ नहीं बोलूंगा! कभी नही बोलूँगा!!

सेम्युअल ने क्रोध में आकर इमेन्युअल को बेंत से पीटना शुरू किया और पीटते-पीटते उसकी जान ले ली। किन्तु मरते दम तक भी सत्यप्रतिज्ञ बालक यही कहता रहा—'मैं झूठ हरगिज नही बोलूंगा।

आखिरी सांस तक भी सत्य पर डटे रहने वाले आठ वर्ष के उस असाधारण बालक की स्मृति में उस नगर के निवासी मई महीने की दूसरी तारीख को 'सत्य दिन' (Truth day) के रूप में महान उत्सव मनाते है। वह क्रम आज तक चल रहा है'। कितना महान् था वह बालक? सत्य के प्रति कितनी निष्ठा थी उसकी! सत्य उसके एक एक रोम में समाया हुआ था। मन वचन तथा काया के द्वारा सत्य का पालन करने का कितना अनूठा उदाहरण है।

अनेक सत्यनिष्ठ पुरुष तो अपने ही नहीं वरन् अपने पिता, माता, मित्र आदि के वचनों की रक्षा के लिये भी अपने प्राणों का मोह छोड़ देते हैं। सम्राट अशोक के पुत्र कुणाल का उदाहरण इस कथन की सत्यता का प्रमाण है।

वृद्ध सम्राट अशोक की नव-पत्नी तिष्यरक्षिता ने सम्राट के पुत्र नवयुवक कुणाल से अनुचित प्रस्ताव किया। किन्तु कुणाल ने उसकी इच्छापूर्ति करने से इन्कार कर दिया। वह भाग कर तक्षशिला के नरेश के यहाँ पहुँच

गया। तक्षशिलानरेश ने कुणाल को अत्यन्त स्नेहपूर्वक अपने महल में स्थान दिया।

कुछ समय बाद तक्षशिला के महाराज ने सम्राट अशोक को कुणाल की प्रसन्नता व कुशलता के समाचार भेजे।

कई वर्षों बाद पुत्र की कुशलता के समाचार पाकर वृद्ध सम्राट को बड़ा हर्ष हुआ किन्तु कलुषहृदया तिष्यरक्षिता के हृदय में आग लग गई। पर बनावटी प्रसन्नता प्रगट करती हुई बोली—महाराज ! अच्छा हो यदि आप कुणाल को वहीं रहकर अध्ययन करने के लिये आज्ञा भेज दें।

तिष्यरक्षिता की कुटिलता से अनभिज्ञ महाराज अशोक ने रानी की बात का सहर्ष समर्थन किया तथा तक्षशिलानरेश को कुशल समाचार लिखने के पश्चात् लिख दिया—'अधीयताम् कुणालः' (कुणाल विद्याध्ययन करे)।

तिष्यरक्षिता ने पत्र पढ़ा और महाराज की नजर बचाकर एक अनुस्वार लगा दिया तथा पत्र रवाना कर दिया।

पत्र तक्षशिलानरेश के पास पहुंचा। जब उन्होंने पढ़ा—'अंधीयताम् कुणालः' तो उनके आश्चर्य का पार न रहा। अन्य दरबारीगण भी आश्चर्य व दुख के कारण मूक हो गए।

कुणाल को भी पत्र के विषय में ज्ञात हुआ। वह समझ गया कि उसके पिता के ये शब्द कदापि नहीं हो सकते किन्तु नीचे पिता के हस्ताक्षर होने के कारण पिता के वचन को सत्य करने का उसने निश्चय कर लिया।

तक्षशिलानरेश से उसने आग्रह करके जल्लाद को बुलवाया और लोहे की गरम-गरम शलाकाएं भी मंगवाईं। किन्तु कठोरहृदय जल्लाद की भी हिम्मत उस सुन्दर, सलौने युवक की आँखें फोड़ देने की नहीं हुई। यह देखकर कुणाल ने स्वयं अपने हाथों से उन शलाकाओं को अपनी आंखों में चुभा लिया ! उसने अपने पिता के आदेश की रक्षा की।

बंधुओ ! आज कितने व्यक्ति ऐसे मिलेंगे ? आज तो दूसरों के वचन की रक्षा तो दूर अपने स्वयं के वचनों का पालन करने वाले भी इने-गिने व्यक्ति ही शायद मिलें ! झूठे वादे करने वाले और बढ़ बढ़कर बातें करने वाले व्यक्ति ही चारों ओर दिखाई देते हैं। जब बातों के अनुसार क्रिया करने का समय आता है तो लोग किनारा करने लगते हैं, चुपचाप खिसक जाते हैं।

आज ऐसे व्यक्तियों की कमी नही जो दूसरों को दिखाने के लिये प्रार्थना, उपासना, जप, तप, दान, दर्शन तथा तपस्या आदि करते हैं। किन्तु इन क्रियाओं के मूल में धन की प्राप्ति, अथवा प्रतिष्ठा की प्राप्ति का लोभ होता है। वे यह भूल जाते हैं कि लोभ अथवा लालच से की जाने वाली शुभ क्रियाएं भी कभी मधुर फल नहीं दे सकती। शुद्ध हृदय के द्वारा सत्कर्म करने पर ही मनुष्य आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकता है। दार्शनिक 'शरले' का कथन है—

"Only the actions of the just smell sweet and blossom in the dust.

अर्थात्- सच्चे मनुष्यों के कर्म ही मधुर सुगन्ध देते हैं और मिट्टी में भी मिलते हैं।

सारांश यह कि मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के साथ मन तथा वचन की भी सत्यता होनी चाहिये। इनके विना क्रिया सारहीन व निष्फल होती है। कपट-पूर्ण क्रिया कर्मबन्ध का ही कारण होती है।

जीवन में क्रिया का महत्त्व कम नहीं है। 'रामचरितमानस' में कहा भी गया है—

करम प्रधान विस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

अर्थात् विश्व में कर्म (क्रिया) की प्रधानता है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल चखने को मिलता है।

किन्तु जैसा कि मैंने अभी बताया, कर्म सत्यता तथा मन की प्रशस्तता पूर्वक किया जाना चाहिये। छल, कपट तथा बनावट पूर्वक किया गया कार्य कुकर्म कहलाता है और उससे मधुर फल की आशा रखना बालू में से तेल निकालने के समान है।

चौभंगी के अन्त में विसंवादना योग कहा गया है। किसी व्यक्ति के लिये अगर कोई दूसरा मनुष्य कुछ करने का वायदा करे, किन्तु वक्त आने पर करे नहीं अथवा इन्कार कर दे तो वह विसंवाद कहलाता है। प्रत्येक मनुष्य को ऐसे झूठे वायदों से बचना चाहिये।

किसी व्यक्ति को मिथ्या आश्वासन देकर धोखे में रखना घोर पाप है। सत्यवादी व्यक्ति कभी किसी को धोखे में नहीं रखता। वह कभी वचन-भंग

नहीं करता । 'सद्भिस्तु लील्या प्रोक्तं,शिलालिखितमक्षरम्' अर्थात् सत्पुरुष हंसी-मजाक में जो बात कह देते है, वह भी पत्थर की लकीर हो जाती है। गांधी जी का कथन है—

"दृढ़ प्रतिज्ञा एक गढ़ के सदृश है जो भयानक प्रलोभनों से हमारी रक्षा करती है और दुर्बलता एवं अस्थिरता से हमें बचाती है। प्रतिज्ञाहीन जीवन कागज का जहाज है जो सदा डांवाडोल रहता है।"

अपनी प्रतिज्ञा का पालन सच्चे पुरुष को अपना तन-धन आदि सभी कुछ त्यागकर भी करना चाहिये । अन्यथा, जैसा कि गांधी जी ने कहा है, उसका जीवन सदा अस्थिर, डांवाडोल रहता है और शीघ्र ही भव-सागर के भंवर में डूब जाने की सम्भावना हो जाती है।

सज्जनो ! सत्य के विषय में आपने विस्तृत रूप से जान लिया है। सत्य आत्मा की एक सहज तथा स्वाभाविक परिणति है । अतः इसे अपनाने में मनुष्य को कोई तकलीफ या कठिनाई नही होती । इसे ढूँढ़ने अथवा पाने के लिये कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता ।

एक बार गांधी जी से एक अंग्रेज परिवार मिलने आया । उसमें एक बहन भी थी । उसने गांधी जी से पूछा—Where can I find the truth ?' (मैं सत्य को कहाँ पा सकती हूँ ?) गांधी जी ने उत्तर दिया—"'No where" (कहीं नहीं) ।

कुछ समय पश्चात् उस बहन ने गांधी जी को अपनी डायरी हस्ताक्षर के लिये दी । उसमें गांधी जी ने लिख दिया—'One can find the truth in his heart.' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति सत्य को अपने हृदय में से ही पा सकता है।"

वास्तव में सत्य मन में ही विद्यमान है और पूर्ण रूप से मन के द्वारा ही इसका पालन करना चाहिये । सिर्फ वचनों के कौशल से छलपूर्ण सत्य बोलना भी सत्य का गला घोटने के समान है। एक उदाहरण है—

दो मित्र थे । उनमें से एक को फांसी की सजा मिलने वाली थी। उसने अपने मित्र से कहा—मित्र ! यहाँ के जज तुम्हारे सम्बन्धी हैं । किसी प्रकार मुझे फांसी की सजा से छुटकारा दिलवा दो।

मित्र जज के पास गया । जज उसे देखते ही समझ गया कि यह अपने मित्र की सिफारिश करने आया है। वह बोला—आओ ! बैठो !! पर यह

याद रखना कि मैं आज तुम्हारी कोई भी बात हर्गिज नहीं मानूंगा।

मित्र बोला—जज साहब ! मैं तो यह कहने आया हूं कि आप मेरे मित्र को फांसी दे दीजिये।

आशय यही है कि सत्य में किसी प्रकार का भी छल-कपट नहीं होना चाहिये और न सत्य स्वर्ग प्राप्त करने के लोभ से या नरक में जाने के भय से ही बोला जाना चाहिये। जो मनुष्य सिर्फ नरक व तिर्यंच गति के दुःखों से डरकर सत्य बोलता है, समझना चाहिये कि वह पाप से नही डरता वरन् पाप के फल से डरता है। झूठ बोलने से उसे परहेज नहीं है किन्तु झूठ बोलने के फल की चिन्ता है और इसीलिये प्रलोभन या भय के कारण सत्य बोलता है।

सत्य को सहज भाव से जीवन में उतारना चाहिये। कर्त्तव्य की भावना से हमारी मनोवृत्ति ही सत्य के रंग में रंग जानी चाहिये। स्वर्ग का लोभ अथवा नरक का भय सत्य को दिखावा न बना दे इसका ध्यान रखना चाहिये।

कहते हैं—एक बुढ़िया बड़े दार्शनिक विचारों वाली थी। एक दिन वह एक हाथ में पानी का घड़ा तथा दूसरे हाथ में जलती हुई मशाल लेकर शहर की गलियों मे घूमने लगी। लोगों ने इसका कारण पूछा तो बोली—

मैंने पानी का घड़ा नरक की आग बुझाने के लिये, तथा मशाल स्वर्ग में आग लगाने के लिये ले रखी है। संसार में जितने भी मनुष्य है किसी के सिर पर तो नरक का भय सवार है और किसी के मस्तिष्क में स्वर्ग की सुखद कल्पनाएँ नृत्य कर रही हैं। कोई साधक तो नरक के दुखों से बचने के लिये साधना कर रहा है, और कोई स्वर्ग पाने के लिये। मैं नरक का डर मिटाना चाहती हूं और स्वर्ग के लोभ को भी नष्ट करना चाहती हूँ।

लोग उस वृद्धा के उत्तर को सुनकर अवाक् रह गए। किन्तु वास्तव में होता आज भी यही है। सत्य सत्य के लिये होता है। उसे किसी लालच में पड़ कर बेचना उसकी अवज्ञा करना है।

जैन धर्म का संदेश तो यह है कि—साधक ! तू जहाँ है, वहीं अपने जीवन के लिये कार्य कर। अर्थात् नरक के भय से भी साधना मत कर और स्वर्ग के लोभ से भी मत कर। आत्मशोधन का जो सहज और सीधा मार्ग है, वही मोक्षमार्ग है। उसी पर चल।

बंधुओ ! आपने सत्य का मर्म समझ लिया होगा और उसके द्वारा आत्मोत्थान करने का उपाय भी जान लिया होगा। आप सहज भाव में, विवेक-पूर्वक सत्य का पालन करेंगे तो आपका जीवन परम मंगलमय बन जाएगा।

[३]

तरण-तारण त्यागवृत्ति

इस विराट् विश्व में अनेक धर्म, सम्प्रदाय और मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सभी की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। किन्तु कुछ सिद्धान्त ऐसे भी हैं जिन्हें सभी धर्म एक स्वर से महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं और आचरणीय मानते हैं। उन व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धांतों में से एक त्यागवृत्ति भी है। संसार के समस्त धर्म त्यागवृत्ति को जीवन के उच्चतम विकास का मूल मानते हैं। त्यागवृत्ति के बिना मानवजीवन कभी सार्थक नहीं हो सकता!

संसार में भोग और त्याग—ये दो प्रवृत्तियाँ सदा से विद्यमान रही हैं। अनादिकाल से जीव वासनाओं के प्रभाव में आकर, उनसे प्रभावित होकर भोगों की ओर आकर्षित होता है और उनमें अधिक से अधिक लिप्त रहकर संतोष का अनुभव करता है। वह अपने जीवन की सार्थकता अधिकाधिक भोगोपभोग करने में ही समझता है। भोगों में वह आनन्द का अनुभव करता है और उसका मन कभी भी उनसे विरत होना नहीं चाहता।

किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें भोग-विलास विनाश के सदृश मालूम होते हैं। वे समझ लेते हैं कि :—

"उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि।

—उपदेशप्रासाद

अर्थात् विषय-भोग विष से भी तीव्र और घातक होते हैं। विष तो भक्षण करने पर ही विनाश करता है किन्तु विषय केवल स्मरण करने मात्र से ही आत्मा के गुणों का विनाश कर दिया करते हैं।

वास्तव में ही विषय-भोग भोगते समय तो आह्लादक, रमणीय, आकर्षक और प्रीतिमय प्रतीत होते हैं, परन्तु उनका परिणाम घोर विषाद, अनन्त पीड़ा और नाना जन्म-मरण के रूप में प्राप्त होता है। विषय-भोग आत्मा के समस्त गुणों के लिए हलाहल विष का काम करते हैं। भोगासक्त व्यक्तियों को जन्म-जन्मान्तरों तक भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। वह कभी भी जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं पा सकता। कहते हैं :—

"तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ।"

—संवेगद्रुमकन्दली

अर्थात् जो भोगों में पूर्ण रूप से अनुरक्त हैं, उनका इन्द्रिय-निग्रह उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार विन्ध्याचल पर्वत का सागर में तैरना ।

किन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा था, संसार में भोगवृत्ति और त्यागवृत्ति दोनों ही विद्यमान रहती हैं । अगर एक ओर भोगों में आसक्त अनेकानेक मानव दृष्टिगोचर होते हैं तो दूसरी ओर भोगों से विरत और त्यागवृत्ति में अनुरक्त महान् पुरुष भी पाए जाते हैं :—

"कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ।"

यानी काम-वासना के अहंकार को, अथवा दूसरे शब्दों में भोग की भयानक शक्ति को चूर करने वाले विरले महापुरुष होते हैं ।

ऐसे वीर पुरुष वासनाओं तथा भोग-लिप्साओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और संसार के समस्त भोगों से विमुख होकर विरक्त बन जाते हैं । वे त्यागवृत्ति को अपनाकर अपनी आत्मा के उत्थान की साधना में निमग्न रहते हैं । उनके अन्तस्तल में निरन्तर यह ध्वनि गूंजती रहती है :—

"त्याग एव हि सर्वेषां मोक्ष-साधनमुत्तमम् ।"

समस्त भोगों का त्याग करना ही प्राणियों की मुक्ति का उत्तम साधन है ।

जन्म-जन्मान्तर के मोहनीय संस्कारों पर विजय प्राप्त कर लेना साधारण बात नहीं है । इसके लिये अत्यन्त गम्भीर एवं सतत चलने वाली साधना की आवश्यकता है । विषय-भोगों के प्रबलतम आकर्षण से छुटकारा पाने के लिये बड़ी भारी शक्ति चाहिये । त्यागवृत्ति को धारण करने के लिये असीम साहस की और उसे जीवनपर्यंत निभा सकने के लिये अचल विरक्ति तथा दृढ़संकल्प की आवश्यकता होती है । त्यागवृत्ति को अपनाकर उसके अनुरूप चलने के लिये अत्यन्त कठोर चर्या का अनुसरण करना होता है । बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का तथा संकटों का सामना करना पड़ता है । त्याग का मार्ग सरल और सीधा नहीं वरन् अत्यन्त कण्टकाकीर्ण होता है ।

त्याग का अर्थ होता है "छोड़ना ।" बहुत-से व्यक्ति दान को ही त्याग समझ लेते हैं । और थोड़ा-बहुत दान देकर अपने को त्यागियों की श्रेणी में मान लेते हैं । यह सत्य है कि दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं । त्याग और दान

दोनों ही धर्म के पूरक है। दोनों ही मनुष्य को ऊँचाई के शिखर पर ले जाने वाले हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। त्याग का निवास अगर धर्म के शिखर पर है तो दान का उसके ललाट पर। त्याग पाप रूपी वृक्ष की जड़ पर ही आघात करता है किन्तु दान ऊपर ही ऊपर की कोंपलें खोंटता है। हम यह भी कह सकते हैं कि त्याग से पाप का मूल धन चुक जाता है, जबकि दान से पाप का ब्याज चुकाया जा सकता है।

संक्षेप में कहा जाय तो त्याग का महत्त्व दान की अपेक्षा अधिक है। दान करने वाला व्यक्ति हृदय में यह समझता है कि यह वस्तु मेरी है और मैं इसे दूसरे को दे रहा हूँ। किन्तु त्यागी व्यक्ति यह विचार करता है कि मेरा क्या है ? कुछ भी नहीं। यह विचार करके वह अपार वैभव और समस्त स्वजन-परिजनों को छोड़कर चल देता है। वह यह नहीं सोचता कि मेरे पीछे इस सम्पत्ति की रक्षा करने वाला कोई है या नहीं ! वह अपने समस्त वैभव को उपेक्षा की निगाह से देखता है और शीघ्रातिशीघ्र उसे छोड़ देने की कामना करता है। छोड़ देने के बाद उसे पीछे फिरकर देखना भी नहीं चाहता।

जिस प्रकार सर्प अपने शरीर पर चढ़ी हुई कंचुली को कण्टकर मानता है और किसी काँटे, झाड़-झंखाड आदि में उलझकर उससे सुलझ जाने पर एक बार भी उसकी ओर नहीं देखता तथा शीघ्र ही वहाँ से पलायन कर जाता है। क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि उसके शरीर पर जब तक वह कंचुली रहती है तब तक वह अंधा रहता है। इसलिये उससे मुक्त होते ही इधर-इधर भागता है।

त्यागी पुरुष भी धन, संपत्ति तथा मोह-ममता को आत्मिक ज्ञान का आवरण मानते हैं। और शीघ्रातिशीघ्र उससे मुक्त होकर आत्मानन्द में रमण करके शाश्वत सुख पाने के लिए भाग खड़े होते हैं।

हृदय में पूर्ण रूप से त्यागवृत्ति का जागृत हो जाना कोई सहज बात नही है। इसके लिये अति दृढ़ मनोबल की आवश्यकता है। संसार के कर्मों में से अनेक तो शारीरिक बल से, अनेक बुद्धिबल से और अनेक मनोबल से सिद्ध होते हैं किन्तु त्याग की साधना के लिये इन तीनों के संयोग की अनिवार्य आवश्यकता होती है। निर्बल आत्माएँ इस वृत्ति को नहीं अपना सकतीं। क्योंकि त्यागवृत्ति फूलों का नहीं वरन् काँटों का मार्ग है। सुकर नहीं, अत्यन्त दुष्कर है।

त्यागवृत्ति एक ऐसी कसौटी है जिसपर मनुष्य का धैर्य, साहस, संयम शांति तथा संतोष सभी कसा जाता है। इस कसौटी पर अत्यन्त दृढ़ मनोबल रखने वाले व्यक्ति ही खरे उतर सकते हैं। प्रथम तो त्याग वही कर सकता है, जो ममत्वभाव से मुक्त हो गया हो। किसी भी भौतिक वस्तु के प्रति उसकी आसक्ति न हो। दूसरे, जो व्यक्ति आंतरिक विकारों का नाश कर सकते हों तथा इन्द्रियों पर संयम रख सकते हों वही त्याग का महत्त्व समझ कर उसे अपना सकते हैं। तीसरे, शरीर के प्रति रंचमात्र भी मोह-ममता न रखने वाले पुरुष त्यागी वन सकते हैं। त्यागी मनुष्य को शरीर सम्बन्धी अनेक उपसर्ग और परिषह समय-समय पर भोगने पड़ते हैं तथा कभी तो प्राणों का परित्याग भी करना होता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए त्याग के कई प्रकार जैनधर्म में बताए गए हैं। स्थानांग सूत्र में कहा गया है :—

"चउव्विहे चियाए पण्णत्ते तंजहा-मगचियाए, वयचियाए, कायचियाए, उवगरणचियाए।"

—स्थानांग सूत्र, अध्ययन ४

सूत्र में चार प्रकार के त्याग बताए गए हैं। (१) मन (२) वचन (३) काय और (४) उपकरण का त्याग। इन चारों प्रकारों से जब त्याग किया जाता है तभी वह सच्चा त्याग कहला सकता है।

मन से त्याग करने का तात्पर्य है मन के विकारों का त्याग करना। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा ईर्ष्या आदि का त्याग करना मन से किया जाने वाला त्याग कहलाता है। बाह्य रूप में अगर भौतिक वस्तुओं का त्याग कर दिया जाय किन्तु मन की इन दुर्वृत्तियों का त्याग न किया जाए तो वह त्याग सम्पूर्ण नहीं कहलाएगा। वह अधूरा त्याग होगा।

शास्त्रों में बताया गया है कि शुभ और अशुभ भावनाओं की उत्पत्ति का स्थान हमारा मन है। मन में अगर अशुभ भावनाओं की विद्यमानता रही तो जीव एक समय (काल के सूक्ष्मतम भाग) में ही अनन्तानन्त अशुभ परमाणुओं का बंध कर लेता है और अगर भावनाएँ शुभ हुईं तो उसी काल में अनन्तानन्त शुभ परमाणुओं का बंध हो सकता है।

जब तक हमारा मन मलीन भावनाओं से भरा हुआ है, भाँति-भाँति की कामनाओं से व्याकुल है, उसमें क्रोध का संचार होता है, अत्यधिक परिग्रह होने पर भी संतोष नहीं हो पाता, लोभ बना ही रहता है और धन-वैभव की अधिकता के कारण अहंकार की लहरें उठा करती हैं, मोह से पागल रहता है,

तब तक त्यागी का बाना पहनना भी त्याग का उपहास करना है। जब तक हम दूसरों की थोड़ी-सी भी उन्नति को देखकर ईर्ष्या से जल उठते हैं, दूसरों के अच्छे कर्मों में भी दोष निकालते रहते हैं, बात-बात में झूठ और कपट का आश्रय लेते हैं, तब तक हमारा त्यागी बनने का ढोंग करना व्यर्थ है।

आज समस्त विश्व कषायों की आग में जल रहा है। प्रत्येक प्राणी मन के विरुद्ध किसी परिस्थिति के उत्पन्न होते ही दुःख और क्रोध से पागल बन जाता है और दूसरों के अनिष्ट का चिन्तन करने लगता है। परिणाम यह होता है कि वह औरों का अनिष्ट न भी कर पाए पर स्वयं अपना अनिष्ट तो कर ही लेता है। श्रीकृष्ण ने कहा भी है :—

क्रोधाद् भवति संमोहः
संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो,
बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

—'गीता'

अर्थात् क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होने से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि नष्ट होने पर प्राणी स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

और अन्त में उसका परिणाम पश्चात्ताप की आग में जलना होता है। क्रोध एक ऐसी आंधी है कि जब आती है, हृदय के समस्त विवेक को नष्ट कर डालती है। एक अंग्रेज विचारक ने कहा है—

"Anger blows out the lamp of mind."

—क्रोध मन के दीपक को बुझा देता है।

क्रोध समस्त दूषित भावनाओं की जड़ है। इसके कारण ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, अविवेक, दुःख और भय सभी पनपने लगते हैं। क्रोध के कारण मन की समस्त सद्भावनाएँ विकृत हो जाती हैं और वह मनुष्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के बजाय अवनति के गड्ढे में ढकेल देता है।

इसके विपरीत जो महापुरुष क्रोध को जीत लेते हैं, उनके हृदय से ईर्ष्या द्वेष तथा मानापमान की दूषित भावनाएँ तिरोहित हो जाती हैं। उसमें धैर्य तथा क्षमा का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

एक बार किसी गृहस्थ के यहाँ एक अतिथि आया। उसने समस्त वस्त्र

काले पहन रखे थे। गृहस्थ ने इसे अमंगल-सूचक समझा और नाराजी से कहा—तुमने ये काले वस्त्र क्यों पहन रखे हैं ?

अतिथि ने उत्तर दिया—मेरे काम, क्रोध आदि मित्रों की मृत्यु हो गई है। उन्हीं के शोक में मैंने काले वस्त्र धारण किये हैं।

गृहस्थ ने क्रोध के कारण उसी समय अपने भृत्य को आदेश दिया कि इस अतिथि को तुरन्त घर से बाहर निकाल दो। नौकर ने आज्ञा का पालन किया और अविलम्ब अतिथि को घर से निष्कासित कर दिया।

गृहस्थ ने थोड़ी देर के बाद न जाने क्या सोचकर उस व्यक्ति को पुनः बुलवाया, और फ़िर निकलवा दिया। इस प्रकार सत्तर बार उसने उस मेहमान को बुलवाया और बाहर निकलवाया। लेकिन परम आश्चर्य की बात थी कि अतिथि के चेहरे पर क्रोध की तनिक भी छाया नहीं पड़ी थी और उसका चेहरा पूर्ववत् मुस्कान से भरा रहा।

अन्त में गृहस्थ उस व्यक्ति के पैरों पर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर अत्यन्त विनयपूर्वक बोला—आप सचमुच क्षमावान् हैं। मैंने आपको क्रुद्ध करने की बहुत कोशिश की किन्तु आप बिल्कुल शांत रहे। वास्तव में आपने क्रोध पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है।

अतिथि पूर्ववत् मुस्कराता हुआ सस्नेह बोला--बंधु ! बस करो, बस करो ! ज्यादा प्रशंसा मत करो। मुझसे ज्यादा सहनशील कुत्ते होते हैं जो हजार बार बुलाने और दुत्कारने पर भी बार-बार आते और जाते रहते हैं।

बंधुओ ! सच्चा त्यागी इस प्रकार अपने मन के विकारों का त्याग करता है। किसी भी परिस्थिति में वह आपे से बाहर नहीं होता। कितना भी उसका अपमान हो, वह मन में कषाय को स्थान नहीं देता। दोषों और कषायों से रहित ऐसी भावना ही मुक्ति का मार्ग है, ऐसा महान् पुरुषों का कथन है।

कहते हैं एक बार एक व्यक्ति सन्त मेकेरियस के पास आकर अत्यन्त विनयपूर्वक बोला—महात्मन् ! मुझे मुक्ति का मार्ग बताइये। सन्त ने कहा—आज तुम जाओ और कब्रिस्तान में जाकर सब कब्रों को गालियाँ देकर आओ।

उस आदमी ने वैसा ही किया और कब्रिस्तान में जाकर सब कब्रों को गालियाँ देकर लौटा। दूसरे दिन सन्त ने उससे कहा—आज तुम पुनः जाओ और सारी कब्रों की स्तुति करके आओ। आदमी सन्त की बात से चकित हुआ किन्तु उसने सन्त से एक भी प्रश्न नहीं किया और सीधा कब्रिस्तान जा

पहुँचा। वहाँ जाकर उसने कब्रों की स्तुति की और वहाँ काफ़ी समय बिताकर वापिस लौटा।

तीसरे दिन वह पुनः संत मेकेरियस के समीप पहुँचा और मुक्ति का मार्ग पूछने लगा। संत ने बड़े स्नेह से कहा—भाई, क्या किसी कब्र ने तेरी गाली अथवा स्तुति का कोई जवाब दिया ?

व्यक्ति बोला—भगवन् ! किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

तब संत बोले—बस, तू भी संसार में इसी प्रकार मान और अपमान पर ध्यान न देते हुए संसार से अलिप्त रह। यही मुक्ति का सच्चा मार्ग है।

कहने का तात्पर्य यही है कि मन पर संयम रखना, उसमें उठने वाले विकारों का तथा क्रोध आदि कषायों का त्याग करना ही मन से त्याग करना है अतः त्यागी को सर्वप्रथम दुर्गुणों का त्याग करना चाहिए।

मन ही मनुष्य को दुर्बुद्धि या सुबुद्धि वाला बनाता है। मन की अवस्थाओं के कारण ही एक व्यक्ति सज्जन कहलाता है और दूसरा दुर्जन। मन में ऐसी विचित्र शक्ति है कि जो व्यक्ति उसके प्रति असावधान होते हैं उन्हें वह अविलंब अपने अधीन कर लेता है। वह मनुष्य को अपना दास बनाकर अपनी इच्छानुसार चलाता है। परिणाम यह होता है कि मन के संकेत पर चलता हुआ व्यक्ति अपना घोर अनिष्ट कर लेता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति मन पर पूर्ण नियंत्रण रखते हैं, उनका मन संसार के समस्त हितैषियों की अपेक्षा भी अधिक भला करता हुआ प्राणी को संसार से मुक्त कर देता है। महात्मा बुद्ध ने कहा है :—

> दिसो दिसं यंतं कयिए, वेरी वपन वेरिनं।
> मिच्छा पणिहितं चित्तं, पापियो न ततो करे॥
> न तं माता, पिता कयिए, अज्जे वापि च जातका।
> सम्मा पणिहितं चित्तं सेय्यसो न ततो करे॥
>
> — धम्मपद

अर्थात् द्वेषी द्वेष करने वाले के साथ और वैरी वैर करनेवाले के साथ जो कुछ करता है, उससे भी अधिक हानि, उच्छृंखल (वश में न किया हुआ) मन करता है। और माता-पिता या सजातीय जन किसी का जो हित करते हैं, उससे भी अधिक हित वश में किया हुआ मन करता है।

असंयत मनवाला साधक ध्यान, साधना, उपासना, चिंतन तथा मनन

किसी भी क्रिया को सही तरीके से नहीं कर सकता। भले ही वह निर्जन स्थान में, कोलाहल से दूर किसी अंधेरी गुफा में जा बैठे जहाँ कि कोई अन्य प्राणी उसकी साधना में विघ्न न डाल सके, फिर भी वह शांतिपूर्वक साधना नहीं कर सकता। क्योंकि उसका मन अपने कुसंस्कारों की सेना के साथ ही रहता है। वह राक्षसी सेना साधक पर आक्रमण करके उसे चंचल और अस्थिर बना देती है। उसकी साधना एक ओर रह जाती है।

इसके विपरीत, संयत मन वाले व्यक्ति निर्भीक होते हैं। और वे काम-विकारों तथा कषायों के द्वारा कभी परास्त नहीं होते। संयत पुरुष को कोई भी प्रलोभन आकर्षित नहीं कर सकता। लालसायें उसे डिगा नहीं सकतीं। दुःख, संताप, आधि, व्याधि से वह व्याकुल नहीं होता। क्रोध की अग्नि उसके शांत हृदय-सर में आकर बुझ जाती है। लोभ का आक्रमण उसके संतोषी मन पर प्रहार नहीं करता। मद और मान उसकी विनयी-प्रकृति में हलचल नहीं मचाते। राग और द्वेष उसकी दृढ़ता को चलायमान नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति ही सच्चे त्यागी कहलाने के अधिकारी होते हैं।

मन के साथ ही वचन से भी संयम रखने की आवश्यकता होती है। अशुभ तथा किसी को भी चोट पहुंचाने वाले शब्दों का त्याग करना साधक के लिये अनिवार्य है। शस्त्र के द्वारा शरीर को जो चोट पहुँचती है वह तो अल्प समय में ही ठीक हो जाती है किन्तु कटुवचनों के द्वारा मन को जो चोट पहुंचती है वह कभी भी मिट नहीं सकती। पंचतंत्र में कहा गया है : —

"वचो दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम्।"

अर्थात् कटुक, घृणास्पद और मर्मघातक शब्द बोलने से हृदय में जो घाव उत्पन्न होता है, उसका पुनः भरना लगभग असंभव-सा ही है।

विवेकशील पुरुष अपने वचनों का प्रयोग अत्यन्त सावधानी पूर्वक करते हैं। वे जानते हैं कि किसी को कटुवाक्यों के द्वारा दुखी करना या किसी के मन को चोट पहुंचाना हिंसा है। और इस हिंसा से बचने के लिये वे अपने वचनों पर पूरा नियंत्रण रखते हैं।

वाणी वास्तव में मनुष्य के हृदय का दर्पण होती है। इस दर्पण के द्वारा मनुष्य का अंतस्थल देखा जा सकता है। जिस व्यक्ति के हृदय में कषायों की तीव्रता रहती है, उसके वचनों में मधुरता नहीं आ सकती। परिणाम यह होता है कि वह अपने मित्रों तथा हितैषियों को दुश्मन बना लेता है। कौरवों और पांडवों के बीच जो महाभारत हुआ था उसका मूल द्रौपदी के कटु वचन

ही तो थे। आज भी हम देखते हैं कि दुर्वचनों के कारण मनुष्य आपस में झगड़ पड़ते हैं, हाथापाई हो जाती है और अनेक बार व्यक्ति की जान भी चली जाती है।

इसके विपरीत, जो मृदुभाषी व्यक्ति होता है, वह दुश्मन को अपना दोस्त बना लेता है। मृदु वचन क्रोध को शांति तथा स्नेह में बदल लेते हैं। एक बार एक संन्यासी भूल से किसी भंगी से छू गए। क्रोध से आगबबूला होकर वे बोले - अंधा हो गया है क्या ? देखकर नहीं चलता ! मुझे छू दिया। इस सर्दी में मुझे फिर से स्नान करना पड़ेगा।

भंगी हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्रता पूर्वक बोला—महाराज ! स्नान तो अब मुझे भी करना पड़ेगा।

संन्यासी चकित हुए और नाराजी से बोले—तुझे स्नान किसलिये करना पड़ेगा ?

भंगी मृदुता से बोला—भगवन्, सबसे ज्यादा अपवित्र और अस्पृश्य चांडाल तो क्रोध है। उसने आपके अन्दर प्रवेश करके मुझे छू लिया है। इसलिये मुझे नहाकर पवित्र होना पड़ेगा।

भंगी की मृदुता, विनय और वाक्पटुता से संन्यासी बड़े प्रभावित हुए। वे शर्म से पानी-पानी हो गए और उन्होंने भंगी से क्षमायाचना की।

नम्रता और प्रेमपूर्ण व्यवहार से मनुष्य तो क्या देवता और पिशाच भी वश में हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन की टीका में कहा है—

एक बार कृष्ण महाराज, बलदेव, सत्यक और दारुक के साथ जंगल में भ्रमण करने गए। घूमते-घूमते उन्हें काफ़ी देर हो गई और वे बहुत दूर निकल गए। रात हो गई। चारों ने विचार किया कि आज की रात्रि इसी वन में व्यतीत की जाए।

वे सब एक वृक्ष के नीचे आ बैठे। उन्होंने तय किया कि हममें से बारी-बारी से एक व्यक्ति जागता रहे और शेष सो जाएं। सर्वप्रथम दारुक जागा और तीनों सो गए। इसी समय एक पिशाच वहाँ आया और बोला—भाई ! मुझे बड़ी तीव्र क्षुधा सता रही है। इन तीनों व्यक्तियों को खाकर मुझे पेट की आग बुझा लेने दो।

दारुक ने कहा—यह कैसे हो सकता है ? इन तीनों की रक्षा के लिये ही तो मैं पहरा दे रहा हूँ। मेरे देखते हुए तू इन्हें नहीं खा सकता। अगर खाना

ही चाहता है तो इनका भक्षण करने से पहले मुझे परास्त कर।

इस पर पिशाच दारुक से लड़ने के लिये तैयार हो गया। ज्यों-ज्यों दारुक का रोष बढ़ता गया त्यों-त्यों पिशाच का बल भी बढ़ता गया। किन्तु दारुक ने हिम्मत नहीं हारी और बलवान् पिशाच को अन्त में परास्त कर भगा दिया। इतने में ही दारुक का समय पूरा हो गया और सत्यक की जागने की बारी आ गई। थका हुआ दारुक सो गया और सत्यक पहरा देने लगा।

कुछ समय पश्चात् पिशाच पुनः लौटा और सत्यक से भी उसने वही कहा। किन्तु सत्यक भी वीर था। उसने पिशाच को बाकी तीन व्यक्तियों को भक्षण करने की आज्ञा देना तो दूर, उससे लड़ना शुरू कर दिया। बलवान् पिशाच को वह परास्त तो नहीं कर सका पर भागने को बाध्य अवश्य कर दिया। सत्यक भी लहूलुहान हो गया था। अतः समय पूरा होते ही वह क्लांत होकर सो गया।

तीसरी बार बलदेव की बारी आई। उनके साथ भी यही घटना घटी। पिशाच आया और लड़-भिड़कर फिर चल दिया। थककर चकनाचूर हुए बलदेव को अपनी बारी का समय पूरा होते ही निद्रा आ गई और अन्त में कृष्ण पहरा देने के लिए तैयार हो गए।

जब श्रीकृष्ण पहरा दे रहे थे तब पिशाच फिर चौथी बार लौटकर आया। दोनों का युद्ध शुरू हुआ। कृष्ण शांत होकर खड़े हो गये। पिशाच का बल जैसे-जैसे बढ़ता गया कृष्ण शांति से उसे कहते रहे—शाबाश ! तू बड़ा वीर है ! तेरी माता धन्य है, जिसने ऐसा वीर पुत्र पैदा किया। कृष्ण जितनी शांति से उससे बात करते रहे, पिशाच का बल भी उतनी ही तेजी से कम होता गया। और वह इतना निर्बल हो गया कि कृष्ण ने उसे उठाकर अपनी जेब में डाल लिया।

बंधुओ ! यह कथानक तो एक रूपक है। इसका अभिप्राय यही है कि क्रोध वस्तुतः पिशाच है। जब उसे क्रोध का बल मिलता है तो वह तेजी से बढ़ता है किन्तु स्नेहपूर्ण मृदुवचनों से वह शांत और कमजोर बन जाता है। कृष्ण की शांति से वह निर्बल हो गया था।

प्रातःकाल जब सब उठे तो देखा कि कृष्ण के अलावा तीनों व्यक्तियों के शरीर क्षत-विक्षत हो रहे थे और चोटें खाकर लाल-लाल हो गए थे। कृष्ण ने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि हम रात को एक पिशाच से लड़े थे। इसलिए हमारे शरीर लहू से लाल हो रहे हैं।

नासिरुद्दीन वड़े ही धर्मनिष्ठ तथा स्वावलम्बी पुरुष थे। सम्राट् होकर भी वह अपने ऐश्वर्य को अपना नहीं वरन प्रजा का समझते थे। राजकोष से वह अपने खर्च के लिये एक पैसा भी नहीं लेते थे। अपने हाथों से किताबों की नकलें करके उससे गुजर करते थे।

एक वार उनकी वेगम, जो रसोई अपने हाथों से ही वनाया करती थी, वोली—जहाँपनाह ! आप सुलतान हैं, आपके पास किस चीज की कमी है ? कृपा करके एक नौकरानी तो रख दीजिये। खाना पकाते समय कितनी ही वार मेरी अंगुलियाँ जल जाती हैं।

वादशाह अपनी वेगम से सस्नेह वोले—मलका ! शाही खजाने पर मेरा क्या अधिकार है ? वह तो प्रजा की संपत्ति है। मेरी कमाई तो तुम जानती हो कि वहुत सीमित है। अव तुम्हीं वताओ इतनी थोड़ी सी आय में नौकरानी कैसे रखी जा सकती है ?

ऐसे होते हैं निस्पृह और त्यागी पुरुष ! वे असीम वैभव के अधिपति होते हुए भी उसमें आसक्त नही रहते, उसे अपना नहीं मानते और समय पाते ही ठुकरा कर चल पड़ते हैं। सेठ धन्नाजी ऐसे ही एक महापुरुष थे।

एक दिन धन्नाजी स्नान कर रहे थे। उनकी आठ पत्नियाँ थीं और वे सभी उस समय उनकी सेवा में व्यस्त थीं। उनमें एक सुभद्रा भी थी। वह कुछ समय पहिले पीहर से लौटी थी। सुभद्रा के भाई सेठ शालिभद्र उन दिनों संसार से विरक्त होकर संयममार्ग अपनाने की तैयारी कर रहे थे। प्रतिदिन अपनी वत्तीस पत्नियों में से एक-एक पत्नी का त्याग करते जा रहे थे।

सुभद्रा स्नान करते हुए धन्नाजी के पृष्ठभाग की ओर थी। यकायक उसे अपने भाई शालिभद्र का स्मरण आ गया। उसकी आँखों से अश्रु ढुलक पड़े। आँसुओं की गरम-गरम वूंदे धन्नाजी की पीठ पर गिरी। उन्होंने पीछे मुड़कर सुभद्रा को रोते हुए देखा तो विस्मित होकर पूछा—तुम रो क्यों रही हो ? क्या कारण है असमय में अश्रुपात करने का ?

सुभद्रा सविनय स्वामी से वोली—देव ! और कोई भी दुख मुझे नहीं है, मेरे भाई शालिभद्र दीक्षा लेने वाले हैं और प्रतिदिन अपनी एक-एक पत्नी का त्याग करते जा रहे हैं। उनका स्मरण आ गया। इसी दुःख के कारण मेरे नेत्रों में अश्रु छलक आए हैं।

धन्नाजी ने यह वात सुनी और उनके मन में विचार आया कि त्याग

ही करना है तो फ़िर थोड़ा-थोड़ा क्यों ? एक साथ ही सब कुछ त्याग देना चाहिये। उनके मुख से यही उद्‌गार निकल पड़े। बोले—सुभद्रा ! तुम्हारे भाई दीक्षा ले रहे हैं यह तो बहुत ही उत्तम है। इसमें दुःख करने की क्या बात है ? किन्तु एक-एक दिन में एक-एक ही पत्नी का त्याग भी कोई त्याग है ? जब त्यागना ही है तो वीर पुरुष को तो एक बार ही सब कुछ त्याग देना चाहिए।

सुभद्रा पति के इन वाक्यों से मर्माहत हो गई। दुःख के आवेश में वह अपने शब्दों पर नियंत्रण नहीं रख सकी और बोल उठी—आर्य ! कैसी बात कर रहे हैं आप ? मेरे भाई वीर हैं तभी तो अपार वैभव और स्वजन, परिजन, पत्नी आदि सभी को छोड़ रहे हैं। कायर होते तो त्याग की बात ही करते, त्याग न करते।

धन्नाजी को पत्नी सुभद्रा की बात में व्यंग्य का आभास हुआ। वह अन्तःकरण में चुभती गई। उन्होंने सोचा-सुभद्रा के वचनों में मेरे लिये तिरस्कार और चुनौती है। क्या संसार का त्याग करना इतना कठिन है कि मैं नहीं कर सकता ? मैं इसी समय कर देता हूं।

यह विचार आते ही धन्नाजी उठ खड़े हुए और बोले - सुभद्रा, मैं इसी क्षण अपना समस्त वैभव, माता-पिता, स्वजन-परिजन तथा तुम आठों का परित्याग कर रहा हूं। तुमने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिये हैं। मैं तुम पर तनिक भी नाराज़ नहीं हूं वरन् तुम्हारा अत्यंत कृतज्ञ हूँ कि तुमने मेरे आत्मकल्याण का मार्ग मुझे सुझा दिया। तुम मेरी गुरु हो।

इतना कहकर वीर धन्नाजी उसी समय घर से बाहर चल दिये और अपने साले श्री शालिभद्र के पास जा पहुंचे। उनसे बोले—भाई ! क्या एक दिन में एक-एक पत्नी को छोड़कर त्याग का आदर्श उपस्थित कर रहे हो ? देखो मैं तो अपनी आठों पत्नियों को तथा समस्त परिवार और ऐश्वर्य को एक साथ ही त्याग कर चला आया हूं। चलो ! हम दोनों साथ ही संयम ग्रहण कर लें। यह सुनते ही शालिभद्र भी उसी समय अपने बहनोई के साथ चल दिये और दोनों ने साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली।

कहने का मतलब यही है, बंधुओ ! कि जो महापुरुष त्यागवृत्ति को अपना लेता है, वह समस्त सांसारिक वस्तुओं को क्षणमात्र में त्यागने में भी समर्थ बन जाता है। इसके विपरीत, अधम पुरुष अपने जीवन एवं शरीर का उपयोग धन कमाने में और उसके उपभोग में करते हैं। और कोई भी कार्य

तब श्रीकृष्ण ने कहा—भाई ! पिशाच भयंकर नहीं होता। अगर उसे हम बल न दें तो वह निर्बल हो जाता है। अगर हम उसके विरुद्ध रोप करें तो वह अधिकाधिक बलवान् बनता जाता है। तुम लोगों ने उस पर रोप किया अतः उसको बल मिल गया। मैंने उसपर रोप नहीं किया तो वह इतना निर्बल हो गया है कि इस समय वह मेरी जेब में ही है और अब मेरा दास बन गया है।

तात्पर्य यह है कि क्रोधी व्यक्ति के सामने भी क्रोध न करके अगर मधुर व्यवहार किया जाय, मृदु-वचनों से उसे समझाया जाय तो वह क्रोध को अधिक समय तक नहीं टिका सकता। वह शीघ्र ही शांत हो जाता है। कबीर ने इसीलिए कहा है:—

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥

वास्तव में वचनों का प्रयोग इसी प्रकार करना चाहिए कि किन्हीं शब्दों द्वारा किसी भी व्यक्ति का हृदय न दुखे, किसी को तनिक भी चोट न पहुँचे। जो मनुष्य मृदुता के सद्‌गुण से शोभायमान रहता है, वह प्रथम तो बोलता ही बहुत कम है। और जब बोलता है तो उसकी बाणी से सभी को आह्लाद का अनुभव होता है।

एक बात और भी ध्यान में रखने की है। वह यह कि कषाय का प्रभाव तो कुछ समय बाद ही पड़ता है, बहुत दिनों तक वैर मन में संचित रह सकता है, किन्तु वचनों का प्रभाव सुनने वाले पर क्षण भर में ही पड़ जाता है। कटुवचन वह शस्त्र है जो मुंह से निकलते ही हृदय को आहत कर देता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष अपनी जिह्वा को अति सावधानीपूर्वक काम में लेते हैं। सर्वदा पूर्णरूप से ध्यान रखते हैं कि मैं कभी किसी के मन को दुखाकर हिंसा का भागी न बन जाऊं। यह विचार कर वह वाचनिक हिंसा का त्याग करता है।

तीसरे प्रकार का त्याग काया से किया जाने वाला बताया गया है। मनुष्य को अपने शरीर के द्वारा होने वाली समस्त अशुद्ध तथा क्रूर क्रियाओं का त्याग करना चाहिये। जिस प्रकार मन के अशुभ परिणामों का तथा जिह्वा के दुर्वचनों का त्याग करना आवश्यक है उसी प्रकार शरीर के द्वारा भी दूसरों के मन को दुखाने वाले कर्मों का त्याग करना सच्चे त्यागी के लिये अनिवार्य है। शरीर के द्वारा किसी को मारना, पीटना, बाँधना अथवा वध

करना ये हिंसापूर्ण कार्य मनुष्य को दुर्गति की ओर ले जाते हैं। जिस शरीर में आत्मा जैसी पवित्र वस्तु का निवास है, उसके द्वारा हिंसक कृत्यों को करना शरीर की पवित्रता का नाश करना है। धर्मसाधन करके कर्मों का नाश करने के लिये पुरुषार्थ करने में ही शरीर की सार्थकता है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

इसलिये अशुभ कृत्यों द्वारा इसका दुरुपयोग करना घोर मूर्खता है। मोक्षमार्ग की साधना करके आत्म-कल्याण करने की अभिलाषा रखने वाला त्यागी साधक अपने शरीर को भोग विलासों में अथवा अन्य प्राणियों को दुःख और कष्ट पहुंचाने में नष्ट नहीं करता। उसको संसार के सभी प्राणी आत्म-वत् प्रतीत होते हैं। उसका मन कदापि यह सहन नहीं करता कि दूसरे व्यक्ति शीत और ताप सहन करें और वह इनके निवारण के साधनों का अम्बार लगा ले। अन्य व्यक्ति भूखे मरें और वह स्वयं अपने गोदाम ठसाठस भर ले।

आज हम अनेक पूँजीपतियों को देखते हैं जो हजारों व्यक्तियों के पेट की रोटी छीनकर अपनी तिजोरियाँ भर लेते हैं। इतने पर भी उनका हृदय संतुष्ट नहीं होता। उनकी तृष्णा शांत नहीं होती। ऐसे लालची व्यक्तियों के लिये ही हमारे शास्त्र कहते हैं—

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्त', नेव ताणाय तं तव॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, १४-३९

अर्थात् यदि सारा संसार और सारे संसार का धन तेरा हो जाय, तो भी वह तेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगा। उससे भी तेरी रक्षा होनेवाली नहीं है।

इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि परिग्रह से कभी भी तृप्ति नहीं होती। परिग्रह के लिये मनुष्य हत्या करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है। कहाँ तक गिनाया जाय, संक्षेप में यही कि कोई भी छोटा अथवा बड़ा पाप नहीं जिसे धनलोलुप न करता हो। किन्तु क्या वह धन उसे मृत्यु के मुख में जाने से बचा सकता है? क्या वह धन उसे कृत-कर्मों के फल भोगने से छुटकारा दिला सकता है? नहीं! इकट्ठा किया हुआ वह धन न यमराज से ही मनुष्य की रक्षा कर सकता है और न कर्मों से बचाव कर सकता है।

संसार में अनेक महान् व्यक्ति ऐसे हुए हैं जो संसार का कार्य करते हुए भी सांसारिक भोग-विलासों से और धन,-वैभव से अलिप्त रहे हैं। सुलतान

उन्हें अपनी काया से करने योग्य दिखाई नहीं देता। धन ही उनका भगवान् और उसकी आराधना ही उनका जीवन-लक्ष्य बन जाता है।

धन बटोरते समय उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि मेरा इकट्ठा किया हुआ धन कितने गरीबों के पेट काट रहा है और भरपेट भोजन भी न मिलने के कारण कितने व्यक्ति अनीति की राह पर चलने लगे हैं। जब तक मनुष्य को भरपेट भोजन नहीं मिलेगा तब तक वह कैसे भगवान् का भजन कर सकेगा! किस प्रकार धार्मिक क्रियाओं में मन को रमा सकेगा? कहावत है—

भूखे भजन न होई गुपाला।
यह लो अपनी कंठी माला॥

भूखे व्यक्ति को अगर कोई मनुष्य उपदेश देने बैठ जाए तो क्या उसे रुचेगा? कभी नहीं। क्षुधा शांत होने पर ही मनुष्य पर धर्मोपदेश का भी असर होगा। इसलिये अगर हम चाहें कि धर्म प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में पनपे और अपना स्थान बनाए तो सर्वप्रथम धनी व्यक्तियों को धन का मोह छोड़कर यथाशक्ति उसका त्याग करना चाहिये। कम से कम अनीति से तो धन नहीं ही बटोरना चाहिए।

कहते है कि एक बार महात्मा बुद्ध श्रावस्ती से तीस योजन चलकर एक ग्वाले को उपदेश देने गए, क्योंकि वह अत्यन्त जिज्ञासु था। ग्वाला सायं-काल के समय बैलों को चराकर घर लौट रहा था किन्तु जब उसने बुद्ध के आगमन का समाचार पाया तो उसी समय बिना कुछ खाये-पीये बुद्ध भगवान् की सेवा में जा प्रहुंचा।

जब बुद्ध को यह ज्ञात हुआ कि ग्वाला सारे दिन का भूखा है तो उन्होंने अपने एक शिष्य को आज्ञा दी कि वह ग्वाले की क्षुधा शांत करे। जब वह भोजन कर चुका तो बुद्ध ने उसे चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया। उसे सुनकर ग्वाला भिक्षुसंघ में सम्मिलित हो गया।

जब बुद्ध के अन्य शिष्यों को ग्वाले को भोजन कराने की बात ज्ञात हुई तो वे आपस में कहने लगे—गुरुदेव किसी और को तो अपने पात्र में से खिलाते-पिलाते नहीं, फ़िर ग्वाले को ही भोजन क्यों कराया?

यह चर्चा बुद्ध के कानों तक पहुंची तो उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—भिक्षुओ! यह व्यक्ति उपदेश सुनने का इच्छुक था और उपदेश का योग्य पात्र भी था किन्तु भूखा था। भूख की हालत में दिया हुआ उपदेश व्यर्थ ही चला जाता। इसलिये मैंने उपदेश से पूर्व इसे भोजन दिया था।

इस उदाहरण से यह साबित हो जाता है कि सर्वप्रथम मनुष्य को भोजन आवश्यक है और उसके पश्चात् ही धर्माराधन संभव है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह कम-से-कम किसी की रोटी छीनकर धनसंचय न करे। आवश्यक से अधिक परिग्रह का त्याग करे। अत्यधिक परिग्रही व्यक्ति स्वयं धर्माराधन नहीं कर सकता है और दूसरों को भूखों मरने के लिये बाध्य करके उनके धर्माराधन में बाधक बनता है। न वह स्वयं अपना भला कर सकता है और न दूसरों का। धन-वैभव अनित्य है और इससे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल ने कहा है : —

होता यदि संसार सुखों का धाम त्याग क्यों करते ?
तीर्थंकर चक्री क्यों जाकर वन में कहो विचरते ?
बड़े बड़े भूपालों ने क्यों जग से नाता तोड़ा ?
अपना विस्तृत निष्कंटक क्यों राज्य उन्होंने छोड़ा ?

अभी अभी आपने सेठ धन्ना तथा शालिभद्र के विषय में सुना है और इतिहास उठाकर देखने पर अनेकों चक्रवर्तियों और सम्राटों के विषय में जाना जा सकता है कि उन्होंने धन-वैभव तथा संसार को दुखों का धाम जानकर इस सबका त्याग किया और मुनि बनकर जीवन के सच्चे लक्ष्य को प्राप्त किया। उन्होंने भलीभांति समझ लिया था कि—

"किन्न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिगतः।"

अर्थात् नदी की बाढ़ के समान बढ़ी हुई परिग्रहवृत्ति कौन-सा क्लेश उत्पन्न नहीं करती ?

सज्जनो ! इसीलिये विवेकी पुरुष अपनी काया को धन-प्राप्ति का साधन न मानकर धर्म-प्राप्ति का साधन मानते हैं। यह शरीर नाशवान् है और आत्मा अमर। कर्मों के संयोग से आत्मा जन्म-मरण के चक्र में पिसती रहती है, ऐसा यथार्थ ज्ञान जिस महापुरुष को हो जाता है वह आत्म-बोधी पुरुष सम्यक् श्रद्धा जागृत होते ही अपने को अमर मानने लगता है। किसी कवि ने कितने सुन्दर शब्दों में इसी तथ्य को समझाया है :—

"देह विनाशी मैं अविनाशी, भेद ज्ञान पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासीः चोखे हो निखरेंगे।।
अब हम अमर भये न मरेंगे।

अर्थात् शरीर नाशवान् है और आत्मा कभी नष्ट होने वाली वस्तु नहीं है। इस प्रकार आत्मा और शरीर या आत्मा तथा पर-वस्तु का यथार्थ विवेक

करके हम भेदविज्ञानी बनेंगे। इसके पश्चात् पर-वस्तु को नाशवान और आत्मस्वरूप को अनश्वर समझते हुए हम आत्म-संशोधन करेंगे। अनादिकाल से संबद्ध कर्म-मल को दूर करके आत्मा को पूर्णरूप से उज्ज्वल बनायेंगे और इससे यह साबित हो जाएगा कि हम अब अमर हो गए हैं, कभी नहीं मरेंगे।

विवेकवान् इसी प्रकार आत्मा को पर-वस्तुओं से भिन्न समझकर अनासक्त भाव धारण करते हैं। और पर-वस्तुओं में राग न रखकर उन्हें त्याग करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। राग ही समस्त कर्मबन्धनों का कारण है। इसी महान् दोष के कारण आत्मा पतित बन जाती है। राग आत्मा के लिये भयानक अभिशाप है और यह आत्मा की जितनी दुर्गति करता है उतनी कोई भी अन्य नहीं करता। आत्मा को जितने भी कष्ट, संकट, दुःख और वेदनाएं भोगनी पड़ती हैं वे सब राग के ही कारण।

राग के कारण ही आत्मा पर दुःखों के महान पर्वत टूट कर गिरते हैं। इतना ही नहीं, राग आत्मा में मतिविभ्रम भी उत्पन्न कर देता है। विवेक पर पर्दा डाल देता है। बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देता है :—

विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

अर्थात् विषयासक्त, रागी मनुष्यों के कौन-कौन से गुण नष्ट नहीं होते ! उनमें न विद्वत्ता रहती है और न मनुष्यता रहती है, न कुलीनता रहती है और न सत्य वचन ही रहता है।

विषयों में आसक्ति एक प्रकार का राग है और उसके कारण मनुष्य समस्त दोषों की खान बनकर आत्मा को संसार में परिभ्रमण करने के लिये अटकाए रहता है। इसीलिये कबीर ने बड़े मार्मिक शब्दों में मन को ताड़ना दी है :—

मैं भँवरा ! तोहि बरजिया,
बन-बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेल से,
तड़पि तड़पि जिय देय॥

मन रूपी भ्रमर को सही मार्ग पर लाने के लिये त्यागी पुरुष उसे तिरस्कृत करता है, नाना प्रकार से समझाता है और वही भव्य पुरुष कालांतर में अपनी आत्मा को पवित्र, विशुद्ध और निःशल्य बना सकता है।

त्याग जीवन-शुद्धि का राजमार्ग है। वह मुक्ति के अभिलाषी पथिक को उसके अभीष्ट लक्ष्य पर पहुंचा देता है। त्याग ही आत्मा को कुन्दन बना सकता है और अव्याबाध सुख तथा महामंगल का भाजन बनाता है। प्रचण्ड तृष्णा के भयंकर तूफ़ान से डगमगाने वाली मन रूपी नौका को सिर्फ़ त्याग रूपी मल्लाह ही बचा सकता है और संसार-सागर के अंतिम किनारे पर ले जा सकता है। यह है त्यागवृत्ति की महत्ता और शक्ति।

o

[४]

आर्य और अनार्य

सज्जनो ! शास्त्रों में स्थान-स्थान पर 'अज्ज' अर्थात् 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव आज हमें इस विषय पर विचार करना है कि आर्य पुरुष किन्हें कहा जा सकता है और अनार्य किन्हें ?

यद्यपि प्रज्ञापना सूत्र में 'आर्य' और 'अनार्य' मनुष्यों की विविध अपेक्षाओं से प्ररूपणा की गई है पर उस विस्तार में न जाकर यहाँ आचार-भाव को समक्ष रख कर ही यत् किंचित् प्रकाश डाला जाएगा। जिस रूप में आज आर्य शब्द साहित्य में रूढ़ हो चुका है उसके अनुसार संक्षेप में दैवी प्रकृति के स्वामी व्यक्तियों को हम 'आर्य' कह सकते हैं और आसुरी प्रकृति के अधीन रहने वाले पुरुषों को 'अनार्य'। ससार में ये दो ही मूल प्रकृतियाँ हैं जिनके कारण मनुष्य उत्तम बन सकता है अथवा अधम।

ज्ञानी पुरुषों ने अपने साधनाजनित दिव्य ज्ञान से निष्कर्ष निकाला है कि इस विराट विश्व के समस्त प्राणी, दैवी, तथा आसुरी इन दो प्रवृत्तियों के स्वामी बनकर अपने अपने ढंग से जीवन का निर्माण करते हैं।

दैवी शक्ति से अलंकृत आर्य पुरुषों की यही विशेषता होती है कि उनके हृदयस्थल में वैर, विरोध, राग, द्वेष अथवा वैमनस्य पल मात्र के लिये भी स्थान नहीं पाते। वे स्वभाव से ही समदर्शी तथा समभावी होते हैं। शांति और धैर्य क्षण मात्र के लिये भी उनका साथ नहीं छोड़ते। भयानक से भयानक स्थिति में वे स्वभाव से विचलित नहीं होते, क्योंकि वे आत्मिक सुख को सांसारिक सुखों से भिन्न मानते हैं। उन्हें दृढ़ विश्वास होता है कि संसार का समस्त वैभव और इसमें भोगे जाने वाले समस्त भोगोपभोग भी आत्मा को रंच मात्र भी सुखी नहीं कर सकते। कालान्तर में ये सभी आत्मा के लिये दु:ख का कारण बनते हैं। जिस धन की आसक्ति के कारण और जिन संबंधियों के मोह के कारण मनुष्य आत्मकल्याण को भुला देता है, वे अन्त में काम नहीं आते। भगवान् ने चेतावनी दी है:—

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा ।
जीवन्तमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयन्ति य ।।

उत्तराध्ययन सूत्र, १८,१४

अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन यह सभी इस जीवन के साथी हैं । मरने पर इनमें से कोई भी साथ नहीं चलता ।

यह एक ऐसा सत्य है कि प्रत्येक प्राणी इसका प्रत्येक समय अनुभव कर सकता है । किन्तु कोई-कोई भाग्यशाली जीव ही भगवान् के इस जागरण-पूर्ण संदेश को समझकर अपने चक्षुओं को खोलता है तथा अपनी आत्मा की शक्ति को समझता है । ऐसा व्यक्ति अपनी कूप-मण्डूकता को छोड़ कर महाप्रभु के इस आदेश में सचेत हो जाता है । वह भलीभांति जान लेता है कि इन भौतिक पदार्थों के सुख से परे भी और कोई सुख है जो आत्मा का स्वरूप होने के कारण चिरस्थायी होता है और जिसकी तुलना में सांसारिक सुख अत्यन्त तुच्छ है ।

ऐसे धीर वीर और संयमी पुरुष जीवन और जगत् के रहस्य को समझ जाते हैं । परिणामस्वरूप वे आशा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करते हैं, संसार सम्बन्धी राग का त्याग कर आत्मा को उन्नत और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं । उनके हृदय का सूत्र भगवान् के साथ जुड़ जाता है और दुनियादारी की झंझटों से स्वयं ही नाता टूट जाता है । उनका चित्त निर्मल, भावना पावन और क्रियाएँ निष्कपट होती हैं । वे मोह से परे हो जाते हैं और विषयविकारों से रहित । क्योंकि वे प्रतिक्षण यह स्मरण रखते हैं: —

अद्यैव हसितं गीतं पठितं यैः शरीरिभिः ।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टं कालस्य चेष्टितम् ।।

अर्थात् अभी कुछ समय पूर्व जो प्राणी हंस रहे थे, उत्तम पदों का पाठ कर रहे थे, प्रसन्नता-पूर्वक गीत गा रहे थे, वे अब कुछ क्षणों के पश्चात् ही दिखाई नहीं पड़ते । कहीं भी उनके शरीर का चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता । काल की यह कैसी कष्टप्रद क्रीड़ा है ।

प्रतिक्षण ऐसी भावना रखने वाले महान् पुरुषों के हृदय में प्राणी-मात्र के प्रति असीम करुणा और स्नेह की भावना होती है । विशाल दृष्टि वाले वे प्राणी समस्त विश्व के प्राणियों के आत्मीय बन जाते हैं क्योंकि वे सबको अपना आत्मीय समझते हैं । अपनी उदार वृत्ति के कारण वे अनुभव करते

हैं कि विश्व का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसके साथ कभी न कभी उनका नाता न हुआ हो। वे मानते हैं कि:—

सब जीवों से सब जीवों के,
सब सम्बन्ध हुए हैं।
लोक प्रदेश असंख्य जीव ने,
अगणित बार छुए हैं ॥

ऐसे दिव्यात्माओं की धारणा होती है कि और तो और गंदगी बहाने वाली नाली में बिलबिलाने वाले कीड़े भी किसी जन्म में हमारे बन्धु-बान्धव थे। तो फिर दूसरे जन्म के सम्बन्धी और इस जन्म के सम्बन्धियों में क्या अन्तर है ?

जिस व्यक्ति के अन्तःकरण में ऐसी भावना जागृत हो जाए उसके द्वारा फिर किसी भी अन्य प्राणी का अनिष्ट होना कैसे सम्भव हो सकता है ? मन वचन और काय इन तीनों में से एक के द्वारा भी वह किसी का अहित चिन्तन नहीं करता। कृत्य-अकृत्य, धर्म-अधर्म, न्याय और अन्याय का विचार करते हुए वह विवेकी पुरुष दूसरों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख और दूसरों के हानि-लाभ को अपना हानि-लाभ समझते हैं। ऐसे उत्तम पुरुष ही साधना के राज-मार्ग पर चलते हैं और अगणित परीषह सहने पर भी उससे च्युत नहीं होते।

बन्धुओ ! अब आप समझ गए होंगे कि किन गुणों के धारक और किन वृत्तियों के स्वामी व्यक्ति को हम आर्य पुरुष कहेंगे। वास्तव में वही व्यक्ति आर्य कहला सकता है जो हेय कृत्यों से दूर रहे—'आरात् हेयधर्मेभ्यो यातीति आर्यः' जो अपने विचारों से और कर्मों से उच्च हो, जिस मनुष्य में सच्ची मनुष्यता हो वह 'आर्य' शब्द से अलंकृत होने का अधिकारी है। मनुष्यता को प्राप्त करना बड़ा कठिन है। कमजोर हृदय का व्यक्ति उसे पाने में समर्थ कदापि नहीं हो सकता। एक शायर ने कहा भी है:—

फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना।
मगर इसमें पड़ती है मेहनत जियादा ॥

कितने सुन्दर भाव हैं कि सच्चा इन्सान बनना फरिश्ता अर्थात् देवता बनने से भी अधिक अच्छा है। किन्तु इसमें मेहनत बहुत पड़ती है। मेहनत से शायर का आशय शारीरिक परिश्रम से नहीं बरन् मानसिक तथा बौद्धिक

साधना से है। सच्चा इन्सान बनने के लिये मानव को इन्द्रिय सुखों का बलिदान करना पड़ता है। मन को नियन्त्रण में रखना पड़ता है। इतना ही नहीं, वरन् उसे मोड़ कर आध्यात्मिक चिन्तन की ओर ले जाना पड़ता है। क्या यह सरल है? नहीं, आत्मिक साधना के लिये संयत पुरुष को अपने मन, वाणी और शरीर पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखते हुए इन्द्रियों को साधने की कठिन तपस्या करनी पड़ती है। भगवान् ने फरमाया भी है:—

साहरे हत्थपाए य मणं पंचिंदियाणि य।
पावगं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं॥

—सूत्रकृतांग प्र. अ.–८

अर्थात् साधक का कर्तव्य है कि वह कछुए की भांति अपने हाथों-पैरों को अर्थात् समस्त अंगोपांगों को गोपन करके रखे। उनके द्वारा किसी भी प्रकार का असंयम न होने दे। विषय-वासनाओं की ओर दौड़ने वाले मन के वेग को रोक ले। इन्द्रियों को विषयों की ओर न जाने दे। हृदय में कुविचारों को स्थान न दे तथा भाषा सम्बन्धी दोषों का सेवन न करे।

सांसारिक पदार्थों और भोग-विलासों में आसक्ति के होने से आत्म-कल्याण के मार्ग में एक दीवार खड़ी हो जाती है। जब तक यह आसक्ति बनी रहती है तब तक आत्मा नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों में और कष्टों तथा वेदनाओं में फंसी ही रहती है। आसक्ति आत्मा की ज्योति को मंद करती है और इसके विपरीत विरक्ति आत्मा को कुंदन बना देती है।

आर्य पुरुष अपनी आत्मा को अपने सुविचारों से उन्नत और पवित्र बनाते हैं और पाप के पथ से निवृत्त होकर धर्म के पथ पर अग्रसर होते हुए इस लोक में सुख के भाजन बनते हैं और परलोक में भी अपूर्व आनन्द का आस्वादन करते हैं।

इसके विपरीत, जो मनुष्य अनार्य होते हैं, दूसरे शब्दों में आसुरी शक्ति के आधीन रहते हैं, उनकी भावनाएँ क्रूर होती हैं और उनके कृत्य अत्यन्त निंदनीय होते हैं। ऐसे पुरुष अशुद्ध विचारों के शिकार होकर अन्याय और अधर्म से अर्थोपार्जन करते हैं। दूसरों के अधिकारों का अपहरण करते हैं और सांसारिक भोगों में ही सुख मानते हैं। झूठ बोलने, कपट करने, दूसरों को ठगने और धोखा देने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करते। औरों का अनिष्ट करने में उन्हें लेशमात्र भी भय का अनुभव नहीं होता। बात की बात में उनके

नेत्रों से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। मद और अहंकार में अकड़े हुए रहने के कारण उन्हें भविष्य में होने वाली आत्मा की दुर्गति का भान नहीं रहता। उनके मन में तो सदा ही यह भावना रहती है :—

मेरो देह मेरो गेह मेरो परिवार सब,
मेरो धन माल मैं तो बहुविधि भारो हूँ।
मेरे सब सेवक हुकम कोऊ मेटे नाहि
मेरी युवती को मैं तो अधिक पियारो हूँ।
मेरो वंश ऊँचो मेरे बाप दादा ऐसे भये,
करत बड़ाई मैं तो जग उजियारो हूँ।
सुन्दर कहत मेरो मेरो कर जाने शठ,
ऐसो नहि जाने मैं तो काल को ही चारो हूँ॥

अनार्य व्यक्ति उपार्जित की हुई धन-सम्पत्ति को 'सदा ही मेरी रहेगी' ऐसा मानता है। सैकड़ों अभिलाषाओं के फंदे में पड़ा हुआ वह कामभोगों की पूर्ति के लिये अपार वैभव का संग्रह करता है। वह सदा यही विचार करता है कि आज मैंने यह प्राप्त कर लिया है और अब कल इस मनोरथ को पूर्ण करूँगा। वह यह भूल जाता है कि ये समस्त पदार्थ नश्वर हैं, आत्मा का साथ छोड़ देने वाले हैं और मेरा स्वयं का शरीर भी 'काल' का सिर्फ एक ही ग्रास है।

ऐसे अज्ञानी व्यक्तियों का सबसे बड़ा अवगुण यही है कि वे अपने को बड़ा ज्ञानी मानते हैं। यद्यपि वे जानते बहुत ही थोड़ा हैं किन्तु दावा बहुत जानने का या कि सब कुछ जानने का करते हैं। वे समझते हैं कि हम जो कुछ जानते हैं, बस वही बोध की पराकाष्ठा है। वही सत्य है। उस अनार्य अथवा अज्ञानी की यह भ्रांति उसकी महादयनीय अवस्था की द्योतक होती है, क्योंकि वह अपनी अज्ञानता का भी अनुभव नहीं कर पाता। उसकी दृष्टि भूतकाल और भविष्यकाल से दूर हटकर वर्तमान तक ही सीमित रहती है। वह भविष्य के नहीं किन्तु वर्तमान के लाभ को ही अपने समक्ष रखता है। इसके विपरीत ज्ञानी व्यक्ति वर्तमान के साथ भविष्य के लाभ को देखते हैं।

कहते हैं कि एक धनी व्यक्ति ईसामसीह के पास पहुँचा। उसने उनसे प्रार्थना की—भगवन्! मुझे अखंड शांति प्राप्त हो, इसका कोई उपाय बताइये। संसार की चीजों से तो मुझे शांति हासिल नहीं होती।

ईसा बोले—वत्स! भगवान् मैं नहीं हूँ, मैं तो भगवान् का एक मामूली सेवक हूँ। फिर भी तुम्हें इतना बता सकता हूँ कि अगर तुम अखंड शांति, अबाध सुख और अमर जीवन जीना चाहते हो तो जाओ अपनी सारी वस्तुएँ, जो तुमने इकट्ठी की हैं, बेच दो और धन को गरीबों में बाँट दो। क्योंकि 'यह तो मुमकिन है कि ऊँट सुई की नोंक में से निकल जाय, पर यह मुमकिन नहीं है कि धनी आदमी ईश्वर के राज्य में दाखिल हो जाय।'

इसीलिये ज्ञानी पुरुष सांसारिक वस्तुओं से विरक्त रहने की कोशिश करता है। अज्ञानी व्यक्ति उनको पाने के लिये अहर्निशि व्याकुल रहता है। वह वैभव प्राप्त करके अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है और उसका नाश हो जाने पर महान् व्याकुलता का अनुभव करता है, उसे महान् विपत्ति मानता और विपत्ति का अनुभव कर अत्यंत खेदित होता है :—

नन्दन्ति मंदा श्रियमाप्य नित्यं,
परं विषीदन्ति विपद्गृहीताः।
विवेकदृष्ट्या चरतां नराणां,
श्रियो न किञ्चिद् विपदो न किञ्चित्।

अर्थात् विवेकहीन पुरुष धन-सम्पत्ति पाकर फूले नहीं समाते और जब विपत्ति आती है तो अत्यन्त दुखी होते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अपनी विवेक-बुद्धि के कारण न धन को ही महत्त्व देते हैं और न विपत्ति को ही। वे तो प्रत्येक स्थिति में 'सागरवत् गंभीराः' यानि समुद्र की भाँति गंभीर बने रहते है।

विवेकहीनता मनुष्य को रागी और मूढ़ बनाती है। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्मा निरन्तर अवनत होती जाती है। वह न इस लोक में सुख और शांति प्राप्त करता है और न परलोक में ही।

इसीलिये दिव्य-पुरुष कहते हैं कि अपने विचारों को और कर्मों को शुद्ध, पवित्र और उन्नत बनाओ। शुभ विचारों और शुभ क्रियाओं से मनुष्य आर्य कहलाने का अधिकारी बनता है। उच्च कुल, उच्च जाति अथवा आर्य क्षेत्र में जन्म लेने पर भी सदाचारहीन मनुष्य आर्य नहीं कहलाता। अशुभ विचारों के तथा अनिष्टकारी कर्मों के कारण मनुष्य अनार्य अथवा म्लेच्छ की कोटि में गिना जाता है। स्थानांग सूत्र में आर्य और अनार्य व्यक्तियों का सुन्दर विवेचन किया गया है जिसके आधार पर हम समझ सकते हैं कि आर्य और अनार्य की परिभाषा क्या है तथा आर्य और अनार्य हम किनको कह सकते हैं। सूत्र है :—

"चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा-अज्जे णाममेगे अज्जभावे, अज्जे णाममेगे अणज्जभावे, अणज्जे नाममेगे अज्जभावे अणज्जे नाममेगे अणज्जभावे।"

—स्थानांग सूत्र अ. ४

चार प्रकार के जो पुरुष सूत्र में बताए गये हैं, उनमें से प्रथम प्रकार के वे हैं जो नाम से भी आर्य होते हैं और विचारों से भी आर्य ही होते हैं। ऐसे आर्य पुरुष उच्च जाति, कुल तथा क्षेत्र में जन्म लेते हैं और उसी के अनुसार अपने विचारों को और जीवन को उच्च बनाए रहते हैं। वे कभी किसी प्रकार के निन्दनीय कर्म नहीं करते और अपने आचरण के द्वारा अपने कुल और जाति को कलंकित नहीं होने देते।

तीर्थंकर, बलदेव, और वासुदेव तथा चक्रवर्ती सभी आर्य क्षेत्र में जन्म लेते हैं, कुलीन होते हैं और उसके अनुसार जीवन यापन करके कालान्तर में शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं।

कुलीन व्यक्ति अपने उन्नत आचरण और विचारों के कारण भयंकर से भयंकर स्थिति में भी धैर्य नहीं खोता। अपनी आत्मोन्नति के लिये प्रयास करते हुए वह अनेकानेक कष्ट सहकर भी विचलित नहीं होता। अपने धैर्य की रक्षा के लिये समस्त धन, वैभव यहाँ तक कि प्राणों का भी त्याग करना पड़े तो सहर्ष ही कर देता है। आचार्य चाणक्य ने कहा है:—

छिन्नोपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं।
वृद्धोपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्॥
यन्त्रार्पितो मधुरिमां न जहाति चेक्षुः।
क्षीणोपि न त्यजति शीलगुणान्कुलीनः॥

अर्थात् जिस प्रकार काटा हुआ चन्दन का वृक्ष अपनी गन्ध को नहीं छोड़ता, बूढ़ा हो जाने पर भी गजराज अपनी मन्दगति को नहीं छोड़ता, कोल्हू में पेरी हुई ईख मधुरता का त्याग नहीं करती, उसी प्रकार धन-वैभव अथवा शरीर से क्षीण हो जाने पर भी कुलीन व्यक्ति अपने शील-गुणों का त्याग नहीं करता। कभी अधर्म का आचरण नहीं करता।

सच्चे आर्य पुरुष सृष्टि के समस्त प्राणियों में ईश्वर का ही रूप देखते हैं। और इसलिये प्रत्येक प्राणी के लिये उनके हृदय में अपार स्नेह और दया होती है। अपने विरोधी के प्रति भी उनके मन में बदला लेने की भावना नहीं आती वरन् उसे अधिक से अधिक सुख पहुँचे यही उनकी भावना रहती है।

एक बार स्वामी रामदास अपने शिष्यों के साथ एक गन्ने के खेत के सामने से गुज़र रहे थे। उनमें से एक शिष्य ने एक गन्ना तोड़कर खा लिया। इतने में ही खेत का मालिक वहाँ आ पहुँचा। बिना उसकी इजाज़त के गन्ना खाते हुए देखकर उसे बड़ा क्रोध आया और उसने रामदास जी को ही सबका सरदार मानकर खूब पीटा।

जब शिवाजी को यह मालूम हुआ कि उनके महान् श्रद्धास्पद गुरुजी को गन्ने के खेतवाले ने पीटा है तो उन्होंने फ़ौरन खेत के मालिक को पकड़वा मंगाया। उसने आकर देखा—स्वामी रामदास, जिन्हें उसने पीटा था, सामने ही राजसिंहासन पर बैठे हैं और महाराज शिवाजी भूमि पर।

यह देखकर किसान थर-थर काँपने लगा। शिवाजी ने गुरुजी से कहा—भगवन् ! आप जो सजा देने को कहें वह मैं इसे दूं।

रामदासजी ने कहा—राजन्, मैं जो कहूँगा वही करोगे ?

शिवाजी ने कहा—अवश्य, क्या मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं करूँगा ?

गुरुजी किसान की ओर बड़े ही दयाभाव से दृष्टिपात करते हुए बोले—तो भाई यह गरीब है। गन्ना कम हो जाने से इसे आघात लगना स्वाभाविक है। अतः इसकी दरिद्रता दूर करने के लिये इसे एक जागीर दे दो।

कहने का तात्पर्य यही है कि आर्य व्यक्ति आर्य क्षेत्र में, उच्च कुल में तथा ऊँची जाति में पैदा होकर उसी के अनुरूप अपना जीवन भी उन्नत बना लेते हैं। संसार के कोई भी प्रलोभन अथवा दुष्टजनों की संगति उनके हृदय में मलिनता और कलुषता पैदा नहीं कर पाती। ऐसे उत्तम पुरुषों के लिये ही सूत्र में कहा गया है—"अज्जे णाममेगे अज्जभावे।"

दूसरे प्रकार के पुरुष वे हैं जो उच्चकुल, गोत्र तथा जाति में उत्पन्न होकर भी जीवन को अवनत बना लेते हैं। उनका हृदय ईर्ष्या, द्वेष निन्दा तथा कषायों का स्थान बन जाता हैं। फलस्वरूप वे सर्वदा गर्हित और निन्दनीय कार्य करते हैं। और जैसा कि सूत्र में कहा गया है—"अज्जेणाममेगे अणज्ज-भावे।" अर्थात् नाम से आर्य होने पर भी वे भावों से अनार्य बन जाते हैं।

कंस उच्च कुल में जन्मा था किन्तु उसने अपना जीवन अन्याय और अत्याचार करने में ही बिताया। अपनी निर्दोष बहन देवकी के छः पुत्रों को

अत्यन्त निर्दयता पूर्वक मौत के घाट उतारा और कृष्ण को मरवा डालने के लिये भी नाना प्रयत्न किये।

इसी प्रकार दुर्योधन ने भी उच्च और प्रतिष्ठित राजवंश में जन्म लिया था। उसके पिता महाराजा धृतराष्ट्र बड़े सरल, सदाचारी और पवित्रात्मा थे। और माता गांधारी महान् पतिव्रता और सती शिरोमणि मानी जाती थी। किन्तु ऐसे माता-पिता की सन्तान होकर भी दुर्योधन अत्यन्त निकृष्ट विचारों वाला बन गया। ईर्ष्या और द्वेष उसकी रग रग में समाया हुआ था।

अपने चचेरे भाई पांडवों से वह बचपन से ही द्वेष रखता था और बड़ा होने पर तो उसके द्वेष ने महाभयंकर रूप धारण कर लिया था। अपने मामा शकुनि की सहायता से उसने धर्मपरायण युधिष्ठिर को भी जूए में हार कर वन-वन में भटकने को बाध्य कर दिया और वर्षों तक उन्हें दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा। इसके अतिरिक्त दुर्योधन ने समय-समय पर पांडवों को मार डालने के प्रयत्न किये। एक बार तो लाख का महल बनवाकर उसमें पांडवों को ठहराया और रात्रि के समय उसमें आग लगाकर जला डालने की कोशिश की।

नाम से आर्य होने पर भी दुर्योधन ने अपने सम्पूर्ण जीवन में अनार्य जैसे निन्दनीय कार्य किये। और अन्त में महाभारत जैसा भयानक युद्ध करके अपने समस्त कुल का नाश किया और लाखों-करोड़ों प्राणियों के घात का कारण बना।

जहाँ हम लोग निवास करते हैं वह आर्य-खण्ड कहलाता है। किन्तु इसमें विचारों और कृत्यों से अनार्यों की कमी नहीं है। आज का मानव मनुष्यत्व त्यागकर दानव बन गया है। एक के बाद एक होने वाले युद्ध इसके परिचायक हैं। विश्व में आज जो अनेकों दुःख व्याप्त हो गए हैं उनका मूल कारण मानव की पाशविक वृत्तियाँ ही तो हैं। आकृति से मनुष्य होकर भी वह प्रकृति से पशु बना हुआ है।

अगर हम स्थिरचित्त होकर निरीक्षण करें तो प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि आज के अधिकांश मानवों के मन में पाशविक वृत्तियाँ अधिकार किये हुए हैं। मनुष्यों के मन में धन के संचय की कभी शांत न होने वाली लालसा रहती है। वह चींटी की भावना के समान है। स्वार्थसिद्धि के लिये धनवानों और अपने अधिकारियों की खुशामद करने की भावना श्वानवृत्ति

का प्रमाण है। छल-प्रपंच के द्वारा एक-दूसरे को ठगने की इच्छा शृगाल की वृत्ति, और ईर्ष्या द्वेष के वशीभूत होकर दाँत पीसते हुए एक-दूसरे से रोष-पूर्वक लड़ना, झगड़ना और कभी-कभी मार डालना यह हिंस्र वृत्ति है।

तो जब तक इन पाशविक वृत्तियों का अन्त नहीं हो जाता, मनुष्य अपने को आर्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। सरलता, सच्चाई मनुष्यता और प्रामाणिकता के बिना मनुष्य जाति, कुल, भाषा या देश से आर्य होकर भी विचारों से और कृत्यों से अनार्य ही रहता है। ऐसे निकृष्ट और हीन विचारों वाले व्यक्तियों के लिये ही तुलसीदासजी ने लिखा है :—

ऊँच निवास नीच करतूती,
देखि न सकहिं पराइ विभूती।

उच्च कहलाते हुए भी नीच कार्य करना और दूसरों की सम्पन्नता को देखकर अहर्निशि हृदय में जलते रहना अनार्यों के ही लक्षण हैं।

अब हम सूत्र में बताए गए तीसरे प्रकार के पुरुषों का विचार करते हैं। ये वे पुरुष होते हैं जो देशादि से अनार्य होने पर भी विचारों से आर्य अर्थात् अत्यन्त सरल और उच्च विचारों वाले होते हैं। वे पापभीरु होते हैं और इसीलिये अपने छोटे-से-छोटे पाप के लिये भी पश्चात्ताप करते हैं। और भविष्य में उन्हें न होने देने के लिये सजगता रखते हैं। ऐसे व्यक्ति जाति, कुल, गोत्र तथा उच्च वंश में पैदा न होकर भी अपने विचारों से महान् साबित होते हैं।

हरिकेशीबल मुनि चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे। उनका बचपन अत्यन्त दरिद्रता तथा हीनावस्था में व्यतीत हुआ था। किन्तु होश सम्भालने पर उन्होंने अपने जीवन को शुद्धता की खराद पर चढ़ाकर कंचन के समान बना लिया। चांडाल होकर भी उन्होंने संयम ग्रहण किया और संयम का भी सिर्फ बाना बदलकर ही नहीं वरन् हृदय की सम्पूर्ण कलुषित वृत्तियों को शुभ वृत्तियों में बदलकर पालन किया। उनके धैर्य की परीक्षा स्वयं देवताओं ने भी ली और उस परीक्षा में सोलह आने खरे उतरे। अंत में पूर्ण संयम का पालन करते हुए उन्होंने देह त्याग किया और कल्याण के भाजन बने।

वास्तव में, जीवन को महान् बनाने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य उच्च कुल का, उच्च जाति का अथवा ऐश्वर्यशाली वंश में जन्म लिया

हुआ हो। जीवन तभी महान् बनता है जब मनुष्य की आत्मा में सरलता, विनय निर्लोभ वृत्ति तथा कषायों की मंदता हो। आत्मा के गुण ही आत्मा को ऊँचा उठाते हैं। वे कहीं बाहर से नहीं आते आत्मा में ही विकसित होते हैं।

एकलव्य एक भील-बालक था। किन्तु उसके हृदय में धनुर्विद्या प्राप्त करने की असीम लालसा थी। निम्न जाति का होने के कारण उसे कोई गुरु अपना शिष्य बनाने के लिये तैयार नहीं होता था, अतः उसने पांडवों और कौरवों के गुरु द्रोणाचार्य की एक मूर्ति बनाई और वह उस मूर्ति के सामने धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा। उसके हृदय में अपने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा थी। परिणामस्वरूप बिना उनके प्रत्यक्ष सिखाए भी वह धनुर्विद्या में अत्यन्त पारंगत हो गया। प्रतिदिन उसकी कला अधिक-से-अधिक बढ़ती गई।

संयोग से एक बार गुरु द्रोणाचार्य स्वयं अपने शिष्यों के साथ उस स्थान पर आ निकले जहाँ एकलव्य दत्तचित्त होकर अभ्यास कर रहा था। उसका अचूक निशाना और अद्भुत कौशल देखकर वे दंग रह गए। पूछने लगे—बालक ! किस गुरु के पास तुम शिक्षा प्राप्त कर रहे हो और तुम कौन हो ?

एकलव्य ने अपनी कल्पना के अनुसार द्रोणाचार्य की बनाई मूर्ति की ओर इशारा किया और कहा—देव ! मेरे गुरु महान् द्रोणाचार्य हैं। मैं भील बालक हूँ, अस्पृश्य हूँ, अतः अपने गुरु की मूर्ति के सामने ही अभ्यास किया करता हूँ।

उसकी आश्चर्यजनक कला देखकर द्रोणाचार्य के हृदय में यह भय समा गया कि यह भील-बालक तो अर्जुन से भी बढ़कर युद्धविद्या में निपुण हो जाएगा। अतः प्रकट में उन्होंने कहा—द्रोणाचार्य तो मैं ही हूँ। अगर तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु-दक्षिणा दो।

एकलव्य ने मस्तक झुकाकर उत्तर दिया—गुरुदेव ! मेरे धन्य भाग्य हैं कि आपके चरण मेरे स्थान पर पड़े। मैं कृतार्थ हो गया। आदेश दीजिए, गुरुदक्षिणा में क्या प्रदान करूँ ? मेरा सर्वस्व आप ही का है।

द्रोणाचार्य ने कहा—मुझे तुम अपने दाहिने हाथ का अंगूठा गुरुदक्षिणा में प्रदान करो। दे सकोगे ?

द्रोणाचार्य के मुख से बात निकलने की ही देर थी, एकलव्य ने फौरन अपने हाथ से हाथ का दाहिना अगूठा काटकर उनके चरणों में रख दिया और कहा—भगवन् ! क्यों नहीं दे सकूंगा ? आपकी आज्ञा पर इसी क्षण अपना मस्तक भी उतार कर दे सकता हूँ, अंगूठा तो चीज ही क्या है ।

बंधुओ ! विचार कीजिए कि एकलव्य और द्रोण में से कौन सच्चा आर्य था ? बालक एकलव्य की अद्वितीय कला का नाश चाहने वाले और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न गुरु द्रोणाचार्य ? अथवा अपने गुरु पर अखंड श्रद्धा और भक्ति रखने वाला, शुद्ध और सरल हृदयवाला भील जैसी निम्न जाति में उत्पन्न हुआ एकलव्य ?

कितनी दृढ़ गुरु भक्ति, कितनी सरलता, कितनी सहनशीलता और कितनी निष्पापता थी एकलव्य के जीवन में । यही तो आर्य पुरुष के लक्षण हैं । ऐसी महान् आत्माएँ नाम से आर्य न होकर भी अपने विचारों और कार्यों से आर्य कहलाती हैं । इसीलिये एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है : —

"Gurd well they thought, our thoughts are heard in heben."

अर्थात् अपने विचारों की अच्छी तरह से रक्षा करो, क्योंकि विचार स्वर्ग में सुने जाते हैं ।

वाहर से कितनी भी उच्च क्रियाएँ क्यों न की जाएँ, अगर उनके साथ उच्च विचार न हों तो वे क्रियाएँ अर्थहीन साबित होती हैं । कबीर का कथन है :—

> **आचारी सब जग मिला, मिला विचारी न कोय ।**
> **कोटि आचारी वारिये, एक विचारि जो होय ॥**

अभिप्राय यह है कि उच्च विचार ही मनुष्य को महान् बनाते हैं और उसे आर्य पुरुष की संज्ञा देते हैं । आज भी हम देखते है कि अनेक दरिद्र व्यक्ति अपने विचारों से अत्यन्त उच्च होते हैं । सौम्यता, सरलता, प्रामाणिकता सन्तोषशीलता तथा स्वालम्बन उनके हृदयों में कूट-कूट कर भरे हुए होते हैं ।

एक बार हातिमताई से किसी ने पूछा— क्या आपने किसी को अपने से भी अधिक स्वात्माभिमानी तथा स्वावलम्बी देखा है ?

हातिमताई बोले – हाँ। एक दिन हमारे यहाँ बड़ा भारी भोज हो रहा था। उस समय मैंने एक लकड़हारे को देखा जो पीठ पर लकड़ियों का गट्ठर रखे हुए अपने घर जा रहा था। मैंने उससे पूछा—भाई! तुम हातिम की दावत में क्यों नहीं गये? आज उसके यहाँ अनेक लोग भोजन करने आए हुए हैं।

लकड़हारे ने जवाब दिया – जो व्यक्ति अपने हाथ की कमाई से पेट भरता है वह हातिमताई के यहाँ खाने के लिये क्यों जाएगा। दूसरों का अन्न खाने की वृत्ति मुझे आलसी बना देगी और धीरे-धीरे मैं परावलम्बी बन जाऊँगा और स्वयं श्रम न करके दूसरों का खाते रहने की मेरी नीयत हो जाएगी। उस व्यक्ति को मैंने आत्मगौरव तथा हृदय की शुद्धता में अपने से बढ़कर पाया।

तात्पर्य यह है कि संसार में अनेक व्यक्ति दीन, हीन, दरिद्र और अभावग्रस्त होने पर भी मन से अत्यन्त शुद्ध और पवित्र होते हैं। मन की उच्चता के लिये कुलीन और वैभवसम्पन्न होना आवश्यक नहीं है। और विचारों से उच्च होना ही वास्तविक उच्चता तथा महानता है। उच्च विचारों में महान् बल होता है। स्वामी विवेकानन्द ने तो यहाँ तक कहा है :—

"अगर कोई मनुष्य गुफा में रहे. वहीं पर उच्च विचार करे और विचार करता हुआ ही मर जाय तो वे विचार कुछ समय पश्चात् गुफ़ा की दीवारें फाड़कर बाहर निकलेंगे और सब जगह छा जायेंगे। तथा अन्त में सारे मानवसमाज को प्रभावित कर देंगे।"

उच्च विचार प्रभावशाली होते हैं और वे मनुष्य को उच्च बनाते हैं। मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसा ही उसके जीवन का निर्माण होता है। अगर मनुष्य का हृदय सुविचारों से परिपूर्ण नहीं है तो उसका कुलीन होना अथवा उच्च वंशीय होना भी कोइ अर्थ नहीं रखता। क्योंकि कुविचार अन्तःकरण पर कुठाराघात करते हैं और आत्मा को अवनति की ओर ले जाते हैं। इसलिये किसी भी मनुष्य का अपने उच्चवंशीय होने का गर्व करना निरर्थक है और निम्नकुल में जन्म लेने के कारण हीनता का अनुभव करना भी व्यर्थ है। अगर मनुष्य को वास्तव में ही आत्मा का कल्याण करना है, संसार के जन्म-मरण से मुक्त होना चाहता है तो उसे प्रत्येक स्थिति में अपने विचारों को और कार्यों को उच्च बनाना चाहिए। यही उन्नति का मूलमंत्र है और सच्चा आर्यत्व है।

स्थानांग सूत्र में वर्णित चौथे प्रकार के मनुष्यों के विषय में बताया गया है कि वे नाम से भी अनार्य होते हैं और भावों से भी सदा अनार्य ही बने रहते हैं। अर्थात् उनका जीवन आदि से अन्त तक निन्दनीय विचारों और कृत्यों से परिपूर्ण रहता है। वे सदा अज्ञान रूपी अंधकार में भटकते रहते हैं और जन्म-मरण के चक्र में पिसते रहते हैं। ऐसे दुर्जन व्यक्ति न अपना ही कल्याण कर सकते हैं और न ही दूसरों के सहायक बन सकते हैं।

कालिक नामक कसाई एक ऐसा ही दुरात्मा और दूसरे शब्दों में अनार्य कहलाने लायक मनुष्य था। यद्यपि भगवान् जानते थे कि आयु कर्म का बन्ध परिवर्तित नहीं हो सकता—उसमें संक्रमण के लिए अवकाश नहीं है, तथापि श्रेणिक को आश्वासन देने और वस्तुस्वरूप समझाने के लिये भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक से कहा—अगर कालिक कसाई प्राणियों का वध करना बन्द कर सके तो तुम्हारा नरकायु बंध टूट सकता है।

महाराज श्रेणिक ने कसाई को वध करना त्याग देने के लिये कहा और इसके बदले में अटूट धन, धान्य आदि देने का प्रलोभन दिया, किन्तु वह पतितात्मा किसी भी मूल्य पर वध करने का त्याग करने के लिये तैयार नहीं हुआ। अंत में राजा श्रेणिक ने उसे कैदखाने में डलवा दिया विचार किया—कैद में रहकर वह किसका वध कर सकेगा?

लेकिन आप जानते ही हैं कि कुबुद्धि भी अपने योग्य मार्ग खोज लेने में असमर्थ नहीं रहती। कालिक ने कारागार में भी जीव-वध करने का अनूठा उपाय खोज लिया। वह अपने शरीर का मैल उतार-उतार कर उसके भैंसे बना लेता और फिर उनकी गर्दन मरोड़ देता। इस प्रकार मन से ही वह संकल्पी-हिंसा करने लगा। श्रेणिक ने अंत में हारकर उसे मुक्त कर दिया।

तो, ऐसे उदाहरणों को देखने पर ज्ञात होता है कि विश्व में ऐसे दुर्जनों का भी अभाव नहीं है, जिन्हें लाख प्रयत्न करने पर भी सज्जन नहीं बनाया जा सकता। कहा भी है—

> दुष्ट न छांड़े दुष्टता, कैसे हूँ सुख देत।
> धोये हूँ सौ बेर के काजर होत न श्वेत॥

वास्तव में दुर्जन व्यक्ति को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दी जाय तब भी वह साधु नहीं बन सकता जैसे काजल को सैकड़ों बार जल से धोने पर भी वह सफेद नहीं होता, और नीम आदि कड़वे वृक्ष हज़ारों घड़े दूध से सींचने पर भी मधुर नहीं बनते।

असंयमी और अधर्मी व्यक्ति अपनी विवेकहीनता के कारण पशुतुल्य जीवन व्यतीत करते हैं और अनन्त काल तक जन्म-मरण के अथाह सागर में डूबते-उतराते रहते हैं। दूसरों को हानि पहुँचाना उनका मुख्य उद्देश्य होता है। और उसी में वे परम सुख की अनुभूति करते हैं। अकारण दूसरों से वैर करना, दूसरों के धन और ऐश्वर्य को प्राप्त करने की इच्छा रखना, तथा पराई स्त्री की चाह करना और अपने मित्रों की उन्नति देखकर ईर्ष्या करना, यह दुर्जनों की स्वाभाविक वृत्ति होती है।

इसीलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि दुर्जनों के साथ किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिये। यहाँ तक कि दुर्जन व्यक्ति अगर विद्यावान् हो तो भी उसके साथ मैत्री करना उचित नहीं है। भर्तृहरि ने कहा भी है :—

दुर्जनः परिहर्तव्यः विद्ययालंकृतोपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः॥

अर्थात् विद्या से विभूषित भी दुर्जन से दूर रहना ही उचित है; क्योंकि मणि धारण करने वाला सर्प भी क्या भयंकर नहीं होता ?

सज्जनो ! आशा है आपने भली-भाँति समझ लिया होगा कि आर्य पुरुष कौन और अनार्य कौन हैं ? स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के पुरुषों का उल्लेख करते हुए आर्य और अनार्य व्यक्तियों के विषय में जो बताया गया है उसे मैंने आपके सामने विस्तृत रूप से रखने का प्रयत्न किया है। सारांश यही निकलता है कि जो व्यक्ति उच्च आचार-विचार का होता है वह आर्य कहलाता है और विचारों से गिरा हुआ तथा आचारहीन हुआ अनार्य। शास्त्रों में आर्यों के विभिन्न अपेक्षाओं से नौ प्रकार भी माने गए हैं :—

खेत्ते जाईकुल कम्मसिप्प भासाइ नाणचरणे य।
दंसण आरिय णवहा मिच्छा सग जवणखसमाई॥

क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा, ज्ञान, दर्शन, तथा चारित्र, इस प्रकार नौ अपेक्षाओं से आर्य कहलाते हैं।

क्षेत्र के आर्य से तात्पर्य है आर्य क्षेत्र में रहने वाला या जन्म लेनेवाला। भरतक्षेत्र में साढ़े पच्चीस आर्यक्षेत्र माने जाते हैं। शेष आर्यक्षेत्र चक्रवर्तीविजयों में होते हैं। तीर्थंकर, बलदेव वासुदेव, चक्रवर्ती आदि सभी इसी क्षेत्र में जन्म लेते हैं। आर्य क्षेत्र वह है जहाँ पापकार्यों की रोक तथा धर्मकार्यों में प्रवृत्ति होती है। आर्यभूमि में स्वभावतः ऐसे संस्कार जागृत हो जाते हैं जिनसे पाप

कार्यों के प्रति घृणा होती है। वहाँ पापचरण न होता हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु पाप का आचरण हेय माना जाता है। जन समाज द्वारा वह अनुमोदित नहीं होता। स्वतः ही वहाँ पापकृत्य त्याग देने की ओर प्रवृत्ति रहती है।

कुछ देश ऐसे होते हैं जहाँ के संस्कार निकृष्ट होने के कारण बालक जन्म से ही हिंसक और दुर्बुद्धि वाले बन जाते हैं और ज्यों-ज्यों वे बड़े होते हैं उनकी दुर्वृत्तियाँ भी बढ़ती जाती हैं। किन्तु आर्य क्षेत्रों में ऐसा नहीं होता। वहाँ तो बालक जन्म से ही माता के उच्च संस्कारों को प्राप्त करने लगते हैं और बड़े होने पर परिजन, परिवार आदि से उत्तम संस्कारों को ग्रहण करते हैं। आर्य क्षेत्र में जन्म लेने वाले और आर्य संस्कारों को ग्रहण करने वाले ही आर्यत्व की रक्षा करते हैं।

उच्च जाति में जन्म लेने वाले जाति-आर्य माने जाते हैं। जाति का अर्थ मातृपक्ष है। जिसका मातृपक्ष उत्तम संस्कारों से सम्पन्न हो वह जात्यार्य है। इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, एवं कुरु आदि आर्यजातियाँ हैं। ऊँची जाति वाले परिवार में प्रायः ऊँचे संस्कार होते हैं अतः उनमें पलने वाली संतान भी ऊँचे विचारों को सहज ही ग्रहण कर सकती है। बालक की प्रथम शिक्षा मां की गोद में होती है। अतएव माता के जैसे संस्कार होते हैं वैसा ही बालक बन जाता है और बचपन के संस्कार ही बड़े होने पर विकसित होते हैं।

तीसरे प्रकार के आर्य कुल से माने जाते हैं। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, कुलकर आदि की विशुद्ध वंशपरम्परा में उत्पन्न होने वाले कुलार्य कहलाते हैं। साधारणतया पितृपक्ष कुल कहलाता है। जिसका पितृपक्ष कुलीन होता है वह पुरुष प्रायः स्वभावतः ही उच्च गुणों का धारक बन जाता है। कुलीन बालक को उत्तम विचारों वाला बनाने के लिये विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। महान् और उच्च कुल में उत्पत्ति स्वयं ही एक बड़ा सम्मान समझा जाता है। यदि मनुष्य उसी के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है तो सर्वत्र, सर्वोच्च आदर का पात्र बन जाता है। सत्पुरुष तो अपनी-अपनी कुलमर्यादा के लिये समय आने पर अपने प्राणों का भी बलिदान कर देते हैं। कुल को निष्कलंक बनाए रखने के लिये ही चाणक्य ने कहा है :—

वरयेत् कुलजां प्राज्ञो, विरूपामपि कन्यकाम्।
रूपशीलां न नीचस्य विवाहः सदृशे कुले॥

अर्थात् कुलीन कन्या कुरूप भी हो तो भी उससे विवाह कर लो। किन्तु नीच संस्कारों वाली कन्या सुन्दर हो तो भी विवाह कदापि मत करो।

कर्म से आर्य होना आर्यों का चौथा प्रकार है। कुछ व्यक्ति दुर्भाग्यवश उच्च कुल में जन्म नहीं ले पाते किन्तु उनका कर्म उच्च होता है। अतः वे कर्म-आर्य कहलाते हैं। यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, कृषि, लेखन, वाणिज्य आदि शिष्ट व्यवसाय कर्म माने गए हैं। बुनकर, कुम्हार, नाई, रुई धुनकने वाले आदि शिल्पार्य कहलाते हैं, जिनकी जीविका लोक में निन्दित नहीं तथा महापाप वाली नहीं है।

संसार में कुछ न कुछ कार्य तो प्रत्येक मनुष्य अपनी आजीविका के लिये करता ही है। किन्तु उन कार्यों में से अनेक कार्य ऐसे होते हैं जिनमें बेईमानी, अनैतिकता और जीवहिंसा का अंश अधिक मात्रा में होता है। उससे बचकर अल्पसावद्य वाली शिल्पकला को अपनाने वाला व्यक्ति शिल्पार्य कहा जाता है।

भाषा के द्वारा भी आर्य पुरुष की पहचान होती है। शिष्ट पुरुष जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, जो भाषा लोकप्रसिद्ध होती है और शिशुओं की भाषा के समान अस्पष्ट न होकर स्फुट या व्यक्त होती है, वह आर्य कहलाती है। ऐसी भाषा का प्रयोग करने वाले भाषार्य कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र जिन्हें प्राप्त हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्र से आर्य कहे गए हैं। ये तीन आर्य पुरुष के सर्वोत्तम आभूषण हैं। इन तीनों से अलंकृत होकर वह नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता है।

बंधुओ ! आपने आर्यत्व के इन नौ प्रकारों को भली-भाँति समझ लिया होगा। मनुष्य अन्य बातों में तथा अपने अन्य गुणों के द्वारा अनार्य होने पर भी इन नौ में से एक-एक के कारण भी आर्य कहा जाता है।

किन्तु क्षेत्र, कुल, जाति या भाषा आदि से आर्य होकर भी अगर कोई सम्यग्दर्शन द्वारा आर्यत्व प्राप्त नहीं करता तो उसकी आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। क्षेत्र, जाति, कुल आदि की अनुकूलता या श्रेष्ठता से मनुष्य को अपना जीवन उच्च और पवित्र बनाने की सुविधा प्राप्त होती है। इस सुविधा से लाभ उठाकर जो रत्नत्रय की साधना करते हैं वही वास्तव में आर्य कहलाने के पात्र हैं।

मेरे कथन का सारांश यही है कि जो साधक आर्यत्व के लक्षणों को अपनाकर संवर और निर्जरा के पवित्र और प्रशस्त पथ पर अग्रसर होता है, उसे मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है। उसकी आत्मा ही परमात्मा बनती है और वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत, अक्षय और अव्याबाध सुख का सागर बन जाता है।

सच्चा आर्य पुरुष ही सदाकाल के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूटता है और परम ज्योतिर्मय, निरंजन, निराकार, निष्कलुष और शुद्ध चेतनामय बनता है। ओम् शांति :·······।

●

[५]

मनुष्य कैसा बने ?

इस चमत्कारपूर्ण तथा रहस्यमय सृष्टि में हम प्रतिदिन विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ तथा विभिन्न प्रकार के जीवों को देखते हैं। एक ओर जहाँ इस पृथ्वी में से कंकर-पत्थर, कोयला, सोना-चाँदी तथा हीरे आदि कम मूल्यवाली और अधिक से अधिक मूल्यवाली वस्तुएं निकलती हैं तो दूसरी ओर इसी पृथ्वी पर कीड़े-मकोड़े, मक्खी-मच्छर, साँप-बिच्छू, शेर-भालू तथा मनुष्य जैसे अनेकों प्रकार के प्राणी भी जन्म लेते हैं।

अनेकानेक प्रकार के जीवों में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ और शक्तिशाली प्राणी है किन्तु मनुष्यों में भी उत्तम, मध्यम तथा जघन्य सभी तरह के मनुष्य पाए जाते हैं। कोई उत्तम कुल और जाति वाला, कोई गुणवान् तथा नीतिमान्, कोई सुन्दर और सदाचारी होता है तो कोई असदाचारी तथा रूप-गुण-विहीन मनुष्य भी होते हैं। इस सृष्टि की बड़ी अद्भुत बात यही है कि एक-सा शरीर, एक-सी इन्द्रियाँ तथा एक सरीखा रंग-रूप होने पर भी प्रत्येक मनुष्य में प्रायः एक-दूसरे से भिन्नता पाई जाती है।

आज हम ठाणांग सूत्र की एक चौभंगी के अनुसार चार प्रकार के वृक्ष बताते हुए उसी आधार पर चार प्रकार के मनुष्यों के विषय में विचार करेंगे। चौभंगी इस प्रकार है :—

"चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तंजहा—(१) उण्णए नामेगे उण्णए, (२) उण्णए नामेगे पणए, (३) पणए नामेगे उण्णए, (४) पणए नामेगे पणए। एवामेव चत्तरि पुरिसजाया पण्णत्ता······।

—स्थानांग सूत्र, स्था. ४ उ. सूत्र २

प्रथम प्रकार के वृक्ष वे हैं जो अपनी जाति से भी उन्नत होते हैं और मधुररसपूरित उत्तम फल प्रदान करने के कारण भी उन्नत या उच्च कोटि के होते हैं। उदाहरण के लिए आम्र वृक्ष को ले सकते हैं। आम का वृक्ष स्वभावतः उन्नत अर्थात् ऊँचा होता है और सुस्वादु फल प्रदान करता है, साथ ही सघन छाया भी।

दूसरे प्रकार के वृक्ष वे हैं जो द्रव्य से उन्नत होते हैं किन्तु न फल ही प्रदान करते हैं और न छाया ही दे पाते हैं, जैसे ताड़ का वृक्ष। आकार में वह बहुत ऊँचा होता है किन्तु उससे किसी को कोई लाभ नहीं होता। न वह फल ही देता है और न पथिकों को छाया ही प्रदान कर सकता है।

तीसरी श्रेणी में वे वृक्ष आते हैं जो आकार-प्रकार से प्रणत, अर्थात् हीन होने पर भी लाभ की दृष्टि से अत्यन्त उन्नत (उत्तम) होते हैं जैसे चंदन का वृक्ष। वह देखने में नीचा होता है किन्तु गुणों में महान् होता है। अनेक बीमारियों का नाश करता है तथा अपनी मनोहर सुगन्ध से आसपास की वस्तुओं को सुगन्धित कर देता है।

चौथे प्रकार के वृक्ष द्रव्य तथा भाव दोनों ही प्रकार से हीन होते हैं। यथा—आक का पेड़। यह आकार से छोटा तथा लाभ की दृष्टि से भी हीन होता है।

वृक्षों के उन्नत तथा प्रणत रूप के आधार पर चौभंगी में आगे बताया है कि इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं।

प्रथम प्रकार के पुरुष वे कहलाते हैं जो जाति तथा कुल से भी उच्च होते हैं और लोकोत्तर ज्ञान तथा क्रिया के द्वारा भी उन्नत होते हैं। ऐसे व्यक्ति शुभ गति प्राप्त करते हैं और कर्मों का नाश करके भव-भ्रमण से मुक्त हो जाते हैं।

भरत चक्रवर्ती ऐसे ही महापुरुष थे। महान् ऐश्वर्यसम्पन्न कुल में वे उत्पन्न हुए थे और बाद में भी उन्होंने प्रव्रज्या धारण करके अपनी अटूट साधना द्वारा मुक्तावस्था को प्राप्त किया।

वास्तव में महापुरुष वही होता है, जिसका जीवन आदि से अन्त तक उच्च बना रहे और वह संसार के लिये आदर्श बन सके। संसार के प्राणियों के नेत्र स्वयं ही उसकी ओर उठ जाएँ। ऐसी आत्मा को खोजने की आवश्यकता न पड़े। उसके गुणों का सौरभ स्वयं ही उसकी विद्यमानता का संदेश जन-जन तक पहुँचा दे। कहते भी हैं —"न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।"

वास्तव में संसार ही महापुरुष को ढूंढ़ता है न कि महापुरुष संसार को। महापुरुष संसार के ज्ञान को अपने माहात्म्य से ही ग्रहण करते हैं, और ग्रहण करने के बाद उसे अपने जीवन में उतारकर जगत् में उसकी सच्चाई का प्रकाश फैला देते हैं।

ऐसी दिव्य आत्माओं के हृदय की कोई थाह नहीं पा सकता। दीन, दरिद्र तथा पीड़ित व्यक्तियों के लिये उनके हृदय में दया, स्नेह तथा सहानुभूति का सागर उमड़ता रहता है। अपने प्राण देकर भी वे विपद्ग्रस्त जीवों की रक्षा करते हैं और विषय-भोगों तथा संसार के आकर्षणों से अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मुख मोड़ लेते हैं। तभी कहा जाता है :—

> वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
> लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

उत्तम पुरुषों का हृदय वज्र से भी कठोर तथा फूल से भी कोमल होता है। उसे जानने में कौन समर्थ हो सकता है ?

अपने लिये महान् कठोर होने पर भी औरों के लिये वे अत्यन्त कोमल होते हैं। बचपन से ही उनमें इन गुणों का बीज विद्यमान रहता है और वह सतत वर्धमान होता रहता है। बाल्यावस्था होने के कारण शारीरिक शक्ति अधिक न होने पर भी उनकी मानसिक शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है।

एक बार इंग्लैंड के राजा जेम्स द्वितीय के पौत्र प्रिंस चार्ल्स प्रथम, जार्ज के सेनापति से परास्त होकर प्राण बचाने के लिये स्काटलैंड की पहाड़ियों में जाकर छिप गया।

घोषणा की गई कि जो कोई उसका मस्तक काटकर लाएगा, उसे चार लाख रुपये इनाम के तौर पर दिये जाएँगे। धन के लोभ में आकर अनेक व्यक्ति खोज में दौड़ पड़े। वास्तव में संसार में सभी व्यक्ति तो महापुरुष होते नहीं। लालच में आकर कोई भी अनर्थ कर डालने के लिये अधिकतर मनुष्य तैयार रहते हैं। किन्तु कोई-कोई मनुष्यरत्न ऐसे भी होते हैं जिनके लिये धन-संपत्ति तथा अपने प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं होता।

तो चार्ल्स की खोज में घूमने वाले एक केप्टन को मार्ग में एक बालक दिखाई दिया। केप्टन ने बच्चे से ही पूछ लिया—क्या तूने प्रिन्स चार्ल्स को देखा है ? बालक बोला—हाँ जाते हुए मैंने देखा है, परन्तु आपको यह कदापि नहीं बता सकता कि मैंने उन्हें कब और किस मार्ग से जाते हुए देखा है।

केप्टिन बालक की बात सुनकर चकित और क्रोधित हो गया। उसने तुरन्त तलवार निकाली और बालक को मार डालने की धमकी दी। किन्तु धमकी का कोई फल नहीं निकला। बालक ने चार्ल्स के विषय में कुछ भी नहीं बताया।

क्रोध में आकर केप्टिन ने बालक पर तलवार से प्रहार किया। चोट लगने के कारण बच्चे के मुख से पीड़ासूचक कराह निकल पड़ी। फिर भी उसने निर्भयतापूर्वक कहा—मैं आपके घातक प्रहार के कारण चिल्लाया हूँ किन्तु तलवार से डरता रंचमात्र भी नहीं हूँ। संकट में पड़े हुए अपने राजा को शत्रु के हाथों में फँसाने के लिये मैं आपका सहायक कदापि नहीं बनूँगा, चाहे आप मुझे जान से मार डाले। मैं मेक्फ़र्सन वंश का बालक हूँ, मुझे आप कितना भी कष्ट क्यों न दें, अपने निश्चय से कभी भी विचलित नहीं होऊँगा।

केप्टिन उस बालक की अद्भुत दृढ़ता से अत्यंत प्रभावित हुआ और उसने बालक को प्रसन्न होकर चाँदी का क्रास इनाम में दे दिया। मेक्फ़र्सन वंश के लोग अब तक भी उसे अत्यंत सम्मानपूर्वक रखते हैं और उस बालक को जो आगे चलकर एक महान् पुरुष बना, अत्यंत आदरपूर्वक स्मरण करते हैं।

इस प्रकार, जैसा कि चौभंगी में बताया गया है—'उण्णए नामेगे उण्णए' कोई व्यक्ति जाति, कुल से भी उच्च और गुणों से उच्च होते हैं अथवा प्रारम्भ में भी और आगे चलकर भी अपने कार्यों तथा विचारों से उच्च बने रहते हैं। वे जीवनपर्यंत संसार का भला करने के प्रयत्न में रहते हैं और अंत में अपना भी कल्याण करते हैं।

दूसरे प्रकार के मनुष्यों के लिये चौभंगी में कहा गया है—"उण्णए नामेगे पणए" अर्थात् जाति कुल आदि से तो उन्नत किन्तु गुणों से उच्च नहीं ऐसे व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से सफल हो सकते हैं, कुल तथा जाति की परम्परागत महत्ता के कारण अपना स्वार्थ साधन करने में समर्थ भी हो सकते हैं, अपने भोग-विलासों के साधन भी जुटा लेते हैं किन्तु उनके द्वारा संसार में किसी का भला नहीं हो सकता और न ही वे परलोक के लिये पुण्यकर्मों का संचय कर पाते हैं।

उच्चवंश में उत्पन्न होने से मनुष्य को समाज से सम्मान मिलता है। किन्तु जो व्यक्ति अपना जीवन भी उस सम्मान के योग्य बनाता है वही आदर व सम्मान का वास्तविक पात्र बनता है, अन्यथा आगे चलकर वह अपकीर्ति का भागी बनता है। कुल की प्रतिष्ठा को मनुष्य अपने सौजन्य, सद्व्यवहार तथा नम्रता से अक्षुण्ण रख सकता है।

जाति तो कृष्ण और कंस दोनों की एक ही थी। उच्च वंश में दोनों ने जन्म लिया था। किन्तु कृष्ण अपने गुणों के कारण जगन्माननीय बने और

कंस अवगुणों के कारण तिरस्कार का पात्र बनकर रह गया। उच्च कुल में जन्म लेकर भी उसमें उच्च गुण नहीं थे। वर्षों अपने बहन-बहनोई को उसने कैदखाने में रखा। अपनी ही बहन की कई सन्तानों को निर्मम होकर मृत्यु के घाट उतारा और किसी प्रकार बचे हुए अपने भागिनेय कृष्ण पर अनेकों जुल्म ढाये।

ऐसे निकृष्ट व्यक्तियों को उच्च कुल में जन्म लेने से क्या लाभ ? वे अपने कुल व जाति को भी अपने हीन कर्मों से लज्जित करते हैं। कोई भी मनुष्य उच्च जाति में जन्म लेने मात्र से महान् नहीं हो जाता, महत्ता का माप सुकर्मों से किया जाता है। कर्म एक ऐसा दर्पण है जो मनुष्य का सही स्वरूप जगत को दिखा देता है।

भगवान के दरबार में जाति का बंधन नहीं माना जाता, दूसरों ने भी कहा है :—

शुभ अरु अशुभ कर्म अनुहारी।
ईश देइ फल हृदय विचारी॥

जाति व कुल का अभिमान और दंभ जिन व्यक्तियों में होता है वे नीच जाति के मनुष्यों को तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन और आत्मप्रशंसा करने में ही वे बड़प्पन मानते हैं। इसके विपरीत, जो पुरुष जातिमान् एवं ऐश्वर्यशाली होकर भी अत्यन्त सादगीपूर्ण तथा सात्विक विचारों के होते हैं, उन्हें गरीबों का और पीड़ितों का दुःख व कष्ट अपना ही मालूम होता है। दीन-दरिद्रों को अभावग्रस्त देखकर उन्हें अपनी अमीरी से नफ़रत और दुखियों से सहानुभूति होती है।

न्यायमूर्ति रानाडे को बचपन से ही दीन-दुखियों के प्रति बड़ी सहानुभूति रहती थी। अपने निर्धन मित्रों को देखकर वे बहुत दुःख का अनुभव करते थे। किसी त्यौहार पर उनकी माता उन्हें मूल्यवान् आभूषण पहनाती तो वे उन सभी आभूषणों को अपने कपड़े में छिपा लिया करते थे।

जब उनके घरवालों ने इसका कारण पूछा तो रानाडे ने उत्तर दिया -- हमारे यहाँ दो गरीब छात्र नौकरी करने के लिये आते हैं। उनके पास कोई आभूषण नहीं होता, अतः मुझे उनके सामने गहने और कीमती कपड़े पहनकर उनका प्रदर्शन करने में शर्म आती है।

आगे चलकर वही रानाडे न्यायमूर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे सिर्फ

भाषणों को ही सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं मानते थे, बल्कि व्यवहारवाद के समर्थक थे। आचार के बिना कोरे विचार को वे निरर्थक समझते थे। उच्च से उच्च आदर्श भी किस काम का जो जीवन में व्यवहृत न होता हो ?

तो उत्तम मनुष्य वही है जो संसार के सामने कुछ अपने व्यवहार द्वारा आदर्श उपस्थित कर सके। जाति, कुल तथा ऐश्वर्य के अभिमान में चूर होकर औरों को तिरस्कृत करना तथा करुणाहीन होकर अपने ही स्वार्थ का साधन करते रहना आदर्श मनुष्यता नहीं है। कहते हैं :—

जन्म से कोई नीच नहीं,
जन्म से कोई महान् नहीं।
कर्म से बढ़कर किसी मनुष्य की।
कोई भी और पहचान नहीं ॥

वास्तव में वही पुरुष महान् होते हैं जो उच्च जाति के होकर भी नीच जाति के व्यक्तियों को गले से लगाते हैं, कुलीन होकर भी अकुलीन व्यक्तियों से सहानुभूति रखते हैं। ऐश्वर्यशाली होकर भी निर्धनों की सहायता करते हैं और विद्वान् होकर भी अज्ञानियों के गुणों की कद्र करते हैं।

अन्यथा उच्च कुल में जन्म लेकर भी वे उच्च नहीं कहलाते और अपने वंश की ख्याति को मिट्टी में मिला देते हैं। हीरे की खान में से कोयले के समान निकलकर अपने कुल को लज्जित करते हैं तथा चौभंगी में बतलाए हुए मनष्यों के दूसरे प्रकार को सही साबित करते हैं।

तीसरे प्रकार के मनुष्य वे होते हैं जो कि प्रणत होकर भी उन्नत बनते हैं। अर्थात् जाति कुल तथा ऐश्वर्य से हीन स्थिति के होकर भी अपने उत्तम गुणों से ख्यातिलाभ करते हैं और मनुष्य-जीवन को सार्थक बना लेते हैं।

विधाता जाति और कुल के आधार पर मनुष्यों के भाग्य का निर्माण नहीं करता। अच्छे और बुरे कर्मों के आधार पर ही भविष्य की गति का निर्माण होता है। मनुष्य चाहे कितना भी धनवान्, रूपवान् और कुलवान् क्यों न हो, अगर उसमें उत्तम गुण नहीं हैं, वह उत्तम कर्म नहीं करता, तो उसका धन, रूप और कुल उसके श्रेय के साधन नहीं बन सकते। महाभारत में कहा गया है :—

मृतास्त एवात्र यशो न येषां,
अन्धास्त एव श्रुतिवर्जिता ये।

ये दानशीला न नपुंसकास्ते
ये कर्मशीला न त एव शोच्याः ॥

अर्थात् जिन्होंने यश पाने का कोई काम नहीं किया वे मरे हुए हैं। जिन्होंने शास्त्र का ज्ञान प्राप्त नहीं किया वे अन्धे हैं, जो दानशील नहीं हैं वे नपुंसक हैं और जो कर्मशील नहीं हैं वे शोचनीय हैं।

शुभ कर्म करने के लिये उच्च कुल अथवा उच्च जाति का होना मनुष्य के लिये आवश्यक नहीं है। हरिकेशी मुनि जाति के चांडाल थे और भगवान् महावीर उच्च कुलीन। किन्तु जिस प्रकार महावीर ने आत्मकल्याण किया उसी प्रकार हरिकेशी मुनि ने भी। दोनों में क्या फर्क रहा? शास्त्र कहता है—जाति से कोई पतित नहीं होता। पतित वह होता है जो चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान इत्यादि दुष्ट कृत्यों को करता है, और उनको गुप्त रखने के लिये बार-बार असत्य भाषण करता है।

वास्तव में अच्छे कार्य करने वाला गुणी व्यक्ति अगर हरिजन भी हो तो भी वह महान् पूज्य और सुगति का अधिकारी होता है। वही भगवान् का सच्चा भक्त माना जा सकता है।

एक बार काशी में गंगा के किनारे ग्रहण के अवसर पर बड़ा मेला लगा था। कहते हैं कि उस मेले में शिव तथा पार्वती भी रूप बदल कर आए। महादेव और पार्वती ने सोचा कि आज यहाँ परीक्षा करनी चाहिये कि इतनी जन-संख्या में सच्चा भक्त और निष्पाप व्यक्ति कौन है?

शिवजी पृथ्वी पर लेट गए और मृतप्रायः दिखाई देने लगे। पास में पार्वतीजी अत्यन्त दुखी और शोकाकुल मुद्रा धारण करके बैठ गईं। आने-जाने वाले व्यक्तियों के पूछने पर पार्वती ने अपने पति की मृत्यु के बारे में लोगों को बताया तथा साथ ही कहा—जो निष्पाप भक्त होगा, वह मेरे पति को जीवित कर सकेगा। साथ ही यह भी कि पापी इस शव को छूते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा।

पार्वती की बात को सुनकर वहाँ सन्नाटा छा गया। यद्यपि मेले में आए हुए सभी व्यक्ति अपने को भक्तराज मानते थे किन्तु किसी व्यक्ति को शव छूने का साहस नहीं होता था। कोई भी व्यक्ति अपने प्राण जोखिम में डालने को तैयार नहीं हुआ।

संयोगवश एक हरिजन उधर से आ निकला। सब बात सुनकर वह

बोला— बहन ! यद्यपि मैं हरिजन हूँ किन्तु प्रयत्न करता हूँ कि तुम्हारे पति जीवित हो जाएँ। मैं अभी स्नान करके आता हूँ, फिर तुम्हारे पति को जीवित करने की कोशिश करूँगा।

अल्प समय में ही हरिजन स्नान करके लौट आया। उसने हार्दिक भक्तिभाव से अदृष्ट ईश्वर को हाथ जोड़े और मर जाने के भय को किंचित् मात्र भी हृदय में स्थान न देकर अपने हाथ से शिवजी का स्पर्श किया। स्पर्श करते ही चारों ओर खड़ी भारी भीड़ ने एक अद्भुत दृश्य देखा। शिवजी हँसते हुए उठकर बैठ गए। शिवजी ने उठते ही अपने सच्चे भक्त हरिजन को गले से लगा लिया और उनकी आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे।

बंधुओ ! क्या वह हरिजन अछूत होने के कारण हीन था ? वह तो हजारों लाखों व्यक्तियों में से भी अधिक धर्मात्मा था।

धर्म का जाति और कुल से कोई संबंध नहीं होता। सच्चा धर्म तो शुद्ध हृदय में पाया जाता है। धर्म अन्तरात्मा में पनपता और विकसित होता है अतः धर्म आन्तरिक है। सच्चे धर्म का आधार उदारता, विश्वस्तता, मानवता तथा दयालुता की भावनाएँ ही हैं। धर्म संसार के प्रत्येक जीव पर करुणा करना सिखाता है, चाहे वह अमीर हो, गरीब हो, अछूत हो या मनुष्य न होकर कुत्ता बिल्ली अथवा अन्य प्राणी क्यों न हो।

वैदिक साहित्य में एक कहानी है—धर्मराज युधिष्ठिर महाभारत का अन्त हो जाने पर दुखी और निराश होकर अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ हस्तिनापुर से चल दिये। एक कुत्ता भी उनके साथ चला।

वे सभी पर्वतों पर चढ़ने लगे। ऊपर चढ़ते चढ़ते रास्ते में क्लांत होकर एक-एक करके द्रौपदी और शेष पाण्डव गिर पड़े। वे वहीं मृत्यु को प्राप्त हुए। किन्तु कुत्ता बराबर धर्मराज के साथ रहा। चलते-चलते धर्मराज स्वर्ग के द्वार पर जा पहुँचे।

उस समय वहाँ इन्द्र ने प्रकट होकर कहा—धर्मराज ! आपका स्वागत है। आप स्वर्ग में प्रवेश कीजिये, किन्तु इस अपवित्र श्वान का त्याग कर दीजिये। इसको साथ लेकर आप स्वर्ग में नहीं प्रविष्ट हो सकते।

युधिष्ठिर ने कहा—देवराज ! यह कुत्ता तो मेरे साथ ही रहेगा। इसे मैं अपने से अलग नहीं कर सकता। इन्द्र ने मुसकराते हुए व्यंग किया—आपने पत्नी एवं भाइयों का तो त्याग कर दिया। उनका ममत्व आपको

आर्कपित नहीं कर सका तो फिर इस कुत्ते के प्रति इतना ममत्व क्यों ? यह अपवित्र है फ़िर भी इतना स्नेह ?

युधिष्ठिर ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"भाई और पत्नी का मैंने जीवित अवस्था में त्याग नहीं किया। मृत्यु के पश्चात् शव को छाती से चिपटाए रखना मूढ़ता है। यह कुत्ता जीवित है और इसने इस लम्बी यात्रा में मेरा साथ दिया है। स्वार्थ के लिए साथी का त्याग करना विश्वासघात और धोखा है। इस मूक जीव ने कदम से कदम मिलाकर यह कठिन यात्रा मेरे साथ की है और इस मंजिल तक भी इसने मेरा साथ नहीं छोड़ा। अपने ऐसे सहयोगी को मैं छोड़ नहीं सकता। अगर इसके साथ मैं स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता तो कोई बात नहीं है। मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये। मैं स्वर्ग से बाहर ही रहूँगा।

धर्मराज की इस अपूर्व धर्म-निष्ठा एव दृढ़ विचार से इन्द्र बहुत ही प्रभावित हुए। जब उन्होंने यह जान लिया कि युधिष्ठिर कुत्ते का साथ न छोड़कर स्वर्ग का मोह त्यागने को तैयार हैं, तो उन्होंने दोनों के लिये स्वर्ग का द्वार खोल दिया।

यह कोई इतिहास नहीं, रूपककथा है। जैन परम्परा के अनुसार युधिष्ठर ने मुक्ति प्राप्ति की। फिर भी इस कथा को कहने का आशय यही है कि मनुष्य के हृदय में मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी गहरी सहानुभूति होनी चाहिए।

हीन कुल एवं जाति में जन्म लेने वाला मनुष्य तो आखिर मनुष्य ही है। उसके प्रति दुर्भावना रखने वालों को शुभ फल प्राप्त होना असंभव है।

जो महापुरुष जाति व कुल से हीन होकर भी सुकर्म करते हैं, जिनका हृदय पवित्रता की ज्योति से जगमगाता रहता है, वे देवता ही नहीं, परमात्मा बनने के अधिकारी हो जाते हैं। कीचड़ में कमल के समान उनका जीवन सौरभमय और सर्वगुणसम्पन्न होता है। प्रत्येक प्राणी उनके गुणों के कारण श्रद्धा से उनके समक्ष मस्तक झुकाने को स्वत: प्रेरित हो जाता है।

वास्तव में जाति, कुल तथा ऐश्वर्य से रहित अवस्था में समय गुज़ारने के बावजूद भी जो व्यक्ति अपने बाहुबल से, अपनी मानसिक दृढ़ता से जीवन को उन्नत बनाता है वह अत्यन्त प्रशंसा का पात्र है। सोना जिस प्रकार घिसने से, काटने से, पीटने से तथा तपाने से शुद्ध होता है उसी प्रकार महापुरुष

अनेकों कठिनाइयों, विपत्तियों तथा अभावों में से गुजरकर साधु पुरुष बनते हैं। कहा गया है :—

> यथा चतुर्भिः कनकः परीक्ष्यते,
> निकर्षणच्छेदन ताप ताडनैः।
> तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते,
> त्यागेन, शीलेन, गुणेन, कर्मणा ॥

सोने की तरह मनुष्य की परीक्षा भी चार प्रकार से होती है—त्याग, शील, गुण और कर्म से। महानता का सर्वप्रथम लक्षण त्याग माना जाता है। अपने शुभ लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए दुनिया की सभी वस्तुओं का मोह त्यागने वाला व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत बना सकता है; भले ही वह किसी भी जाति का क्यों न हो ! त्याग सब को महत्व प्रदान करता है।

त्याग का अर्थ होता है छोड़ना। किसी वस्तु के मोह को छोड़ना अत्यन्त कठिन होता है। कल्पना कीजिए आपके सामने दो व्यक्ति आए हैं। एक के हाथ में प्याऊ के निर्माणार्थ चन्दा लेने के लिए रसीद बुक है। आप २५) रु० ही उसे देना चाहते हैं और वह १००) रु० लेना चाहता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति है जिससे आपको सिर्फ ५) रु० लेने हैं। और वह अत्यन्त दरिद्रता के के कारण पाँच रुपये छोड़ देने की प्रार्थना कर रहा है, आप उस समय क्या करेंगे ?

मैं समझता हूँ ऐसी स्थिति में आपके लिए चंदा देना तो सरल होगा किन्तु पाँच रुपये का त्याग करना कठिन। किसी पंचायत में पाँच-पच्चीस व्यक्तियों को अपनी राय में मिलाया तो जा सकता है किन्तु अपनी बात को छोड़ना असंभव होता है।

इसी प्रकार कभी-कभी मनुष्य भावुकता में आकर किसी बात का वचन तो देते हैं किन्तु उसका पालन करते समय अपने स्वार्थ का मोह छोड़ना उन्हें कठिन मालूम पड़ता है। बहुत थोड़े व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो अपने वचन को पूरा करने के लिए अपना स्वार्थ त्याग करते हैं। तभी किसी ने कहा है :—

"हैं विरले ही या जग में जो कहैं सो करें और करैं सो कहैं ना।"

मनुष्य की दूसरी कसौटी शील बताई गई है। शील का अर्थ है आचरण। आचरण की उच्चता मनुष्य की उच्चता की द्योतक है। धर्म, सत्य,

सदाचार, बल, लक्ष्मी ये सब शील के ही आश्रय में रहते हैं। शील ही सब गुणों का आधार है। अपनी प्रभुता के लिये चाहे जितने उपाय किये जायँ परन्तु शील के बिना संसार में सब फीका है :—

शीलं प्रधानं पुरुषे, तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभिः ॥

—वेदव्यास

अर्थात् शील अनमोल रत्न है। उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीना ही व्यर्थ है। वह चाहे जितना धनी अथवा भरे-पूरे घर का हो उसका कोई मूल्य नहीं रहता।

गुण मनुष्यता की तीसरी कसौटी है। गुणों की ही सर्वत्र पूजा होती है। लिंग अथवा वय की नहीं :—

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते, पितृवंशो निरर्थकः।
वासुदेवं नमस्यंति, वसुदेवं न ते जनाः ॥

—चाणक्य

अर्थात् गुणों का ही सर्वत्र सम्मान होता है, वंश का नहीं। लोग वासु-देव (कृष्ण) को ही वन्दना करते हैं, उनके पिता वसुदेव को नहीं।

गुणी व्यक्ति कहीं भी रहें पर उनके गुण, उनकी ख्याति के लिये स्वयं दूत का कार्य करते हैं। जिस प्रकार केवड़े की गंध सूँघकर भ्रमर स्वयं उनके पास चले जाते हैं। इसके विपरीत गुणहीन व्यक्तियों के पास कोई नहीं फ़टकता। उनके समीपस्थ व्यक्ति भी उन्हें त्याग कर चल देते हैं। कहा भी है—

गुणहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमति चोन्नतम्।
संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥

उन्नत कुल में उत्पन्न किन्तु गुणहीन राजा को छोड़कर सेवक भी अन्यत्र चले जाते हैं। जैसे सूखे हुए पेड़ को छोड़कर पक्षी दूसरे पेड़ पर चले जाते हैं।

सज्जन व्यक्ति की चौथी पहचान है कर्म। इस विषय में मैंने अभी बताया था कि मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके उत्तम कर्मों से ही होती है। मनुष्य अपने कर्मों से ही ऊँचा बनता है। जाति अथवा कुल से नहीं।

तो चौभंगी के अनुसार बताया गया कि तीसरे प्रकार के मनुष्य वे हैं

जो जाति-कुल आदि से प्रणत होकर भी अपने गुणों से उन्नत बन जाते हैं। अब हम मनुष्यों के चौथे प्रकार पर आते हैं। चौथे प्रकार के मनुष्य सदा ही अवनत बने रहते हैं। कुल जाति आदि से भी वे अवनत होते हैं और कर्मों से भी अवनत ही रहते हैं।

उदाहरण के लिये हम कालिक कसाई को ले सकते हैं। वह हीन कुल में जन्म लेकर जीवन भर विचारों से भी हीन बना रहा।

तात्पर्य यही है कि चौभंगी के अनुसार चौथी श्रेणी के मनुष्य जन्म से भी नीच होते हैं और जीवन पर्यंत वैसे ही रहते हैं। कोई भी गुरु, कैसा भी उपदेश तथा अच्छे से अच्छा वातावरण भी उनके हृदय को बदल नहीं पाता। कहा भी है :—

नीच निचाई नहि तजे, सज्जन हू के संग।
तुलसी चंदन विटप बसि, विष नहि तजत भुजंग॥

जिस प्रकार विषधर सर्प चंदन के पेड़ पर रहकर भी निर्विष नहीं होता, उसी प्रकार नीच व्यक्ति सज्जनों के साथ जीवन व्यतीत करते हुए भी अपनी नीचता का परित्याग नहीं करता।

दुर्जन व्यक्ति न अपना भला कर सकता है और न दूसरों का। इस लोक में वह सदा औरों का अनिष्ट करता है और परलोक में महान् दुःख और कष्ट उठाता है। इसीलिये बुद्धिमान् व्यक्ति कहते हैं कि दुष्ट व्यक्तियों से कभी भी मैत्री नहीं करनी चाहिये। दुष्ट व्यक्ति अगर दुश्मन है तब तो वह अहित करता ही है किन्तु मित्र बनकर भी अनिष्ट का कारण बनता है। कहा गया है :—

दुर्जनेन समं वैरं प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चांगारः शीतः कृष्णायते करम्॥

अर्थात् दुर्जनों के साथ न मैत्री और न वैर करना चाहिये। वह प्रत्येक स्थिति में दुःख का कारण बनता है। जैसे— कोयला अगर जलता हुआ हो तो स्पर्श करते ही जला देता है और यदि ठंडा हो तो हाथ काला करता है।

दुष्टों की संगति से बचने के लिये विवेकी पुरुष तो यहाँ तक कहते हैं 'विधाता' भले ही हमें नरक में भेज दे किन्तु दुष्टों के साथ तो हम स्वर्ग में भी नहीं रहना चाहते :—

वरु भल वास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देहु विधाता॥

भाइयो ! आपने चौभंगी के अनुसार चार प्रकार के वृक्षों तथा चार भाँति के मनुष्यों के विषय में समझ लिया होगा। अब आपको विचार कर देखना है कि हम किस श्रेणी के व्यक्ति हैं ? और हमें किस श्रेणी का बनना है ?

अपने जीवन को महान् अथवा उन्नत बनाने के लिये, जैसा कि मैंने अभी बताया, जन्म से उच्च, कुलीन अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न होना आवश्यक नहीं है। बल्कि विचारों से और कर्मों से ऊंचा होना चाहिए। हृदय में विकारों का न होना और उसका शुद्ध तथा पवित्र होना ही महानता का लक्षण है। मनुष्य उतना ही महान् होगा जितना वह अपनी आत्मा में सत्य, त्याग, दया प्रेम तथा वैराग्य का विकास करेगा। जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई है, जिसका अज्ञान नष्ट हो चुका है और जो परमात्मतत्त्व में स्थिर है वही अपना कल्याण कर सकता है।

इसलिये अगर आप अपने जीवन को महान् और अपनी आत्मा को को परमात्मा बनाना चाहते हैं तो अपने मन को शुद्ध तथा कर्मों को स्व-पर कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न कीजिये। यही अभ्युदय और निश्रेयस का मार्ग है।

●

[५]

व्यर्थ समय मत खोओ

वंधुओ ! एक दिन मैंने वताया था कि सामायिक का महत्त्व जीवन में कितना अधिक है, और उसका सही अर्थ क्या है। सामायिक जीवन का एक आवश्यक कर्त्तव्य है और उस कर्त्तव्य का मन, वचन तथा काया की पूर्ण स्थिरता के साथ पालन करना चाहिये। सामायिक के समय में मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखते हुए सम-भावपूर्वक ध्यान, चिंतन, मनन तथा स्वाध्याय आदि, जो आत्मोन्नति में सहायक हों वे क्रियाएँ करनी चाहिये।

प्राय: देखते हैं कि अनेक भाई-वहन मुख पर मुखवस्त्रिका वाँध लेते हैं और अड़तालीस मिनिट का समय किसी तरह से विताकर संतुष्ट हो जाते हैं। सामायिक के उस काल में कोई-कोई कुछ पढ़ लेते हैं, मन को इतस्तत: भटकता हुआ छोड़कर साधु-सन्तों के प्रवचन सुन लेते हैं, भजन गा लेते हैं अथवा इधर-उधर की बातें करते रहते हैं। वहनों का तो आधा अथवा उससे भी अधिक समय इधर-उधर की, गृह-कार्य की सास-ननदों की लड़ाई-झगड़ों की अथवा किसी की निन्दा तथा चुगली की वातों में ही व्यतीत होता है।

ऐसी रागद्वेषवर्धक वातें तथा गपशप हमारे शास्त्रों की भाषा में विकथा कहलाती हैं। सामायिक जैसे महत्वपूर्ण अनुष्ठान के समय में विकथाएँ करना अत्यन्त अनुचित है। उनसे वचना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। तभी सामायिक सच्ची सामायिक कहला सकती है।

यों तो सामायिक के समय के अतिरिक्त भी अगर इस प्रकार व्यर्थ की वातों में समय विताया जाए तो वह समय व्यर्थ खोना है और दोष का भागी वनना है, किन्तु सामायिक के समय तो उनसे वचना ही चाहिए।

अपनी वात शुरू करने से पहले मैं दो शब्दों की ओर आपका ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हूँ; प्रथम 'कथा' और द्वितीय शब्द 'विकथा' है। दोनों के अर्थ में वहुत अन्तर है। साधारणतया कही जाने वाली प्रत्येक वात 'कथा' कहलाती है परन्तु यह शब्द धर्मोपदेश के अर्थ में रूढ़-सा हो गया है।

विकथा का अर्थ है विकार उत्पन्न करने वाली कथा या निरर्थक वार्ता। कथा संयम की साधना में साधक बनती है और विकथा संयम-साधना में बाधक। साधना में बाधक होने वाली विकथाओं को चार भागों में विभक्त किया जाता है। स्थानांग सूत्र में एक चौभंगी है :—

"चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, तंजहा —
इत्थीकहा, भत्तकहा, देसकहा, रायकहा ...... ।"

स्थानांग सूत्र स. ४

अर्थात् विकथाएँ चार प्रकार की हैं—

(१) स्त्रीकथा, (२) भक्तकथा (३) देशकथा और (४) राजकथा।

मनुष्य जीवन तीन प्रकार का होता है। साधुजीवन, श्रावकजीवन तथा साधारण जीवन। साधारण जीवन जीने वालों के विषय में हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि उनके जीवन का अधिकांश भाग व्यर्थ की बातों में और गपशप में जाता है।

जहाँ चार आदमी मिलकर बैठते हैं वहीं व्यर्थ की बातें शुरू हो जाती हैं, और घंटों होती रहती हैं। किन्तु उनके फलस्वरूप क्या हासिल होता है ? कुछ भी नहीं। गांवों में अलाव के चारों ओर चिलमें फूंकते हुए लोग जो इधर-उधर की बातें करते हैं उनसे आता-जाता तो कुछ भी नहीं, व्यर्थ ही समय नष्ट होता है और कर्मबन्ध होता है।

बंधुओ ! समय के मूल्य को समझो। बातों का अंत कभी आता नहीं। विकथाएँ समय का मूल्य जानने वाले नही वरन् निकम्मे आदमी ही करते हैं। जिन्हें आजीविका की चिन्ता नहीं, जो दूसरों के परिश्रम पर गुलछर्रे उड़ाते हैं और निकम्मे रहते हैं, ऐसे लोग प्रायः विकथाएँ करके अपने जीवन को मलीन बनाते हैं।

बादशाह अकबर को ही लीजिये। एक बार अकबर, बीरबल, काजी तथा हाजी चारों बैठे हुए थे। बादशाह बोले—भाई, कोई कथा कहो, पर शर्त यह हो, कि कोई किसी भी बात से इन्कार न करे। जो इन्कार करेगा उसे एक लाख रुपया देना पड़ेगा। सभी सहमत हो गए।

सर्वप्रथम बादशाह अकबर बोले—मेरे दादाजी के पास इतने हाथी थे कि अगर एक की पूंछ से दूसरा बाँध दिया जाता तो पृथ्वी के एक छोर से

दूसरे छोर तक हाथियों की कतार वन जाती। अकवर की वात को सुनकर सभी ने कहा—"सत्य है"

दूसरा नम्बर काजी का था। उन्होंने कहा—एक वार तनिक भी वर्षा नहीं हुई। वादल आते थे और चले जाया करते थे। नगरनिवासी घवरा गए और मेरे दादाजी के पास आए। मेरे दादाजी ने जनता की घवराहट को देखकर एक ऐसा तीर छोड़ा कि उससे वादलों में छेद हो गया और मूसलधार पानी वरस पड़ा। सवने इस वात के लिये भी 'हाँ' कह दिया।

अव हाजी का नम्वर आया। वे वोले—जव काजीजी के दादाजी ने पानी वरसाया तो खूव पानी वरसा, चारों ओर पानी ही पानी हो गया। फ़िर भी वरसात रुकी नहीं तो मनुष्य और ज्यादा घवराए और मेरे दादाजी के पास दौड़े। मेरे दादाजी ने एक वहुत लम्वा वाँस लेकर उसे वादलों की ओर पहुँचाया। उस वाँस से उन्होंने वादलों को आपस में मिला दिया। फलस्वरूप पानी वरसना वन्द हो गया।

वीरवल वड़े होशियार थे। उन्होंने मन में सोचा—ऐसी व्यर्थ की वातें करने वालों को कुछ न कुछ सीख देनी चाहिये। वे थोड़ा विचारकर वोले—काजीजी तथा हाजीजी के पिता वड़े ही कलाकार थे, किन्तु वे थे वड़े ही गरीव। अपनी गरीवी से तंग आकर एक वार वे दोनों मेरे दादाजी के पास पहुँचे और दादाजी से एक-एक लाख रुपया दोनों ने उधार लिया। वह रुपया अभी तक वापिस नहीं दिया गया है। कृपा करके काजी साहव तथा हाजी साहव दोनों मुझे एक-एक लाख रुपया देकर अपने दादाजी के ऋण से उऋण हों।

अव तक सव 'हाँ' कह रहे थे, अव 'हाँ' कहना कठिन हो गया। मगर 'ना' कहना भी महँगा था। अतएव काजी और हाजी वड़े घवराए। इस वात से इनकार करें तो एक-एक लाख देना पड़ता है और स्वीकार करें तव भी। दोनों ही मुँह लटकाकर वैठ गए। कुछ सूझा ही नहीं कि क्या करें और क्या कहें।

अंत में वीरवल ने उन्हें इस महान् दुख से छुटकारा दिलाते हुए कहा—भाई साहव, मुझे रुपये की आवश्यकता नहीं, आप लोग एक-एक लाख देंगे भी कहाँ से? मेरा उद्देश्य तो यही है कि ऐसी वातों से लाभ क्या होता है? व्यर्थ समय नष्ट होता है और वकवाद करने से कोई न कोई मुसीवत भी सामने आ खड़ी होती है। इसलिये आइन्दा ऐसी व्यर्थ की कथाएँ कहकर डींगे न हाँकें तथा अपने अमूल्य समय का कुछ सदुपयोग करें। वादशाह काजी तथा

हाजी तीनों ही शरमिन्दा हुए और उन्होंने मन ही मन आइन्दा कभी ऐसी व्यर्थ की बातें न कहने का निश्चय किया।

तो बंधुओ ! जब साधारण जीवन व्यतीत करने वालों को भी ऐसी विकथाओं से परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं और उनका समय भी व्यर्थ जाता है तो फिर श्रावक के जीवन का महत्व तो बहुत अधिक है। श्रावक की शब्दावली तो तनिक भी व्यर्थ नहीं जानी चाहिये। श्रावक बारह व्रतों को धारण करते हैं। उनमें से नवमाँ व्रत सामायिक है। सामायिक सम्बन्धी बत्तीस दोष तथा पाँच अतिचार बताए गए हैं। अतिचारों का जिसे ज्ञान होता है वह सामायिक ग्रहण करने तथा पालने के नियमों का बराबर ध्यान रखता है। बत्तीस दोषों में से कोई भी दोष न लगे इसके लिए भी सावधानी वर्तता है। सामायिक दोषों तथा अतिचारों से रहित होनी चाहिए। तथा चारों प्रकार की विकथाओं में से एक भी नहीं करनी चाहिये। तभी सामायिक निर्दोष सामायिक कहला सकती है।

तीसरे प्रकार का जीवन मुनि-जीवन है। मुनि-जीवन तो सभी अन्य जीवनों में उत्तम है। मुनि का तो सम्पूर्ण जीवन ही सामायिक में व्यतीत होता है। अतः उनके जीवन में तो विकथाओं का स्थान ही नहीं होना चाहिए। साधु-जीवन का एक-एक क्षण अमूल्य होता है। एक क्षण भी व्यर्थ चला जाना साधु की साधना में बाधक बनता है। इसलिये मुनि अपने प्रत्येक समय का पूर्ण रूप से सदुपयोग करने का प्रयत्न करते हैं।

ऐसे समय में, जबकि काल का भीषण चक्र प्रतिक्षण सिर पर मंडरा रहा है, साधु, श्रावक तथा सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले पुरुषों को विकथाओं का त्याग करके अपने समय को निष्कलंक रूप से व्यतीत करने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

यों तो प्रत्येक ऐसी कथा, जो आत्मा को स्वानुभूति से विलग करती है, आत्मा को बहिर्मुख बनाती है, विकथा ही है, परन्तु स्थूल रूप में उन्हें चार भागों में बाँट दिया गया है—(१) स्त्रीकथा, (२) भक्तकथा (३) देश-कथा और (४) राजकथा।

स्त्रीकथा का अर्थ है स्त्रियों की जाति कुल तथा रूप आदि के विषय में अनावश्यक चर्चा करना। सद्गृहस्थ को तो अपनी पत्नी के अलावा विश्व की सभी नारियों को माता तथा बहन के समान समझना चाहिये तथा अन्य नारियों

के रंग रूप आदि के वर्णन का त्याग होना चाहिये। जो अविवाहित विधुर तथा मोक्षाभिलाषी साधक हैं विशेषतः उन्हें स्त्रीकथा का त्याग करना चाहिये।

नारी के विषय में अनावश्यक चर्चा करते रहने से हृदय में विकार उठते हैं और मनुष्य को दोष का भागी बनना पड़ता है। मन की भावनाओं के विकृत होने पर साधना दूषित हो जाती है और उसका फल अनिष्टकारी होता है। स्त्री के रूप रंग आदि की चर्चा हृदय में काम-विकार को जागृत करती है।

संसार में प्रलोभन की अनेकानेक वस्तुएँ हैं। धन के लिए मनुष्य नाना प्रकार के कष्ट सहन करता है, मोह से प्रेरित होकर प्राणी अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ भोगता है, यश और कीर्ति के लिये भी पुरुष अनेक छल, कपट और ढोंग करता हुआ देखा जाता है, किन्तु इन सभी से ज़बर्दस्त और उग्र प्रलोभन विश्व में काम-विकार होता है। काम का प्रलोभन इतना प्रबल होता है कि उसमे बचना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस प्रलोभन ने समस्त संसारी जीवों को अपने चंगुल में फंसा रखा है। मूर्ख तो इसमें फंसते ही हैं किन्तु बड़े-बड़े विद्वान् और तपस्वी भी नारी के आकर्षण में पड़कर अपना ज्ञान-ध्यान खो बैठते हैं।

महातपस्वी विश्वामित्र 'मेनका' के प्रति आकर्षित होकर अपनी तपस्या को भूल बैठे थे। आषाढ़भूति मुनि भी नारियों के रूप पर मुग्ध होकर अपने संयम-मार्ग से च्युत हो गए थे।

आषाढ़भूति ने बचपन में ही संयम ग्रहण कर लिया था और युवावस्था आने तक पूर्ण संयम का पालन किया था। किन्तु एक बार संयोग ऐसा बना कि वे विवेक खो बैठे और साधना पथ से विलग हो गए। वे बड़े बुद्धिमान् और गुणवान् थे किन्तु वासना का उदय होने पर उनकी विद्वत्ता तथा बुद्धिमत्ता ने भी उनका साथ छोड़ दिया।

एक बार वे अपने गुरु धर्मरुचि के साथ भ्रमण करते हुए राजगृह नगर में आए। एक दिन जब वे भिक्षा लाने के लिये नगर में गए, तो घूमते-घूमते विश्वकर्मा नामक नाटककार के यहाँ पहुँचे। विश्वकर्मा अपने द्वार पर संत को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपने हाथों से आषाढ़भूति के पात्र में भिक्षा के साथ एक मोदक भी दिया।

आषाढ़भूति वहाँ से चल दिये किन्तु रास्ते में उन्हें ध्यान आया कि

लड्डू तो पात्र में एक ही है। ले जाकर गुरु को दिखाना पड़ेगा और देना पड़ेगा। तब फिर मेरे हिस्से में क्या आएगा ? यह सोचकर उन्होंने अपना रूप-परिवर्तन किया और पुनः विश्वकर्मा के यहाँ जा पहुँचे। विश्वकर्मा ने फिर मोदक पात्र में दिया और मुनि वहाँ से रवाना हो गए। किन्तु रास्ते में फिर उनके मन में आया कि उपाश्रय में उपाध्याय तथा अन्य संत भी तो हैं, क्या होगा दो मोदकों से ?

परिणामस्वरूप तीसरी बार रूप बदलकर वे विश्वकर्मा के यहाँ आए और फिर मोदक ले गए। इसी प्रकार तीन बार वे रूप बदलकर आए और लड्डू उन्होंने ले लिये। विश्वकर्मा भी चतुर था। उसने समझ लिया कि यह मुनि रूप बदलने में सिद्धहस्त हैं और इसीलिये बार-बार भिक्षा के लिये आ जाते हैं।

साथ ही विश्वकर्मा के हृदय में यह विचार भी आया कि यह मुनि रूप बदलने में पारंगत है, अगर मेरी नाटकमंडली में आ जाए तो कितना अच्छा रहे। यह सोचकर जब पुनः आपाढ़भूति उसे दूर से आते दिखाई दिये तो उसने अपनी दो पुत्रियों को, जिनका नाम रम्भा और शची था, मुनि को भिक्षा देने के लिये खड़ा कर दिया।

जब चौथी बार आपाढ़भूति भिक्षा के लिये पहुँचे तो रंभा और शची ने मुस्कराते हुए उन्हें मोदक भिक्षा में दिये। रंभा और शची को देखकर आपाढ़भूति के मन में विकार का अंकुर पैदा हो गया और वे उस घर में बार-बार आने-जाने लगे। जब विश्वकर्मा की पुत्रियों ने आपाढ़भूति को अपनी ओर पूरी तरह से आकर्षित हुआ देखा तो उन्होंने एक दिन मुनि से विवाह का प्रस्ताव किया।

आपाढ़भूति भोग के आकर्षण से खिंच तो चुके ही थे, उन्होंने विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया—सोचने लगे। अभी तो जीवन बहुत लम्बा है। कुछ दिन सांसारिक सुख का आनन्द उठाकर फिर आत्म-कल्याण कर लूँगा।

उसी समय वे अपने गुरु धर्मरुचि के पास पहुँचे और उनके समक्ष रजोहरण और पात्रों को रखकर बोले—गुरुजी ! मैं विश्वकर्मा नाटककार की पुत्रियों से विवाह करके कुछ समय संसार का सुख भोगना चाहता हूँ।

गुरुजी बड़े दुःखी हुए और उन्होंने आपाढभूति को समझाने की कोशिश

की। किन्तु उनका प्रयत्न विफल हुआ। "विनाशकाले विपरीतवुद्धिः" यही कहावत उस समय चरितार्थ हुई। अंत में आषाढ़भूति के किसी भी तरह न मानने पर गुरुजी ने उनसे कहा—वत्स, नहीं मानते हो तो तुम्हारी मर्जी, किन्तु मांस-मदिरा का तो त्याग कर दो।

आषाढ़भूति ने मांस तथा मदिरा दोनों का सहर्ष त्याग कर दिया। गुरुजी को नमस्कार करके वे चल दिये। सीधे विश्वकर्मा के यहाँ पहुँचे और वहाँ जाकर उसकी पुत्रियों से विवाह करके नाटकमंडली में शामिल हो गए। थोड़े से समय में ही बड़े कुशल नाटककार के रूप में उनकी ख्याति फैल गई।

एक बार उनकी नाटकमंडली घूमती-फिरती हुई पुनः राजगृह नगर में आ पहुँची। वहाँ के राजा ने आषाढ़भूति की ख्याति सुनकर उन्हें बुलाया और वीररसपूर्ण एक नाटक खेलने के लिये कहा। साथ ही यह भी कहा कि उसमें स्त्रीपात्र नहीं होने चाहिये। आषाढ़भूति ने यह प्रस्ताव मंजूर कर लिया और उसी रात्रि को ठीक समय पर राजमहल में नाटक करने के लिये वे अपने दल के साथ पहुँचे।

आषाढ़भूति के घर से प्रस्थान करते ही रंभा और शची ने विचार किया-नाटक तो तीन-चार बजे रात तक खत्म होगा। क्यों न हम मांस खाएँ और मदिरा का आस्वादन करें? आषाढ़भूति के कारण तो कभी भी इनका सेवन नहीं कर पातीं। इस विचार को दोनों ने तुरन्त कार्य रूप में परिणत किया और जी भर कर मांस मदिरा का सेवन किया। मदिरा के तीव्र नशे के कारण बहुत शीघ्र ही दोनों बेसुध होकर गिर पड़ीं और उसी प्रकार भूमि पर पड़ी रहीं।

संयोगवशात् जब आषाढ़भूति राजा के यहाँ पहुँचे तो अचानक ही किसी अन्य राजा के आक्रमण के समाचार मिल जाने के कारण राजा ने उस दिन के नाटक को स्थगित कर दिया। आषाढ़भूति वहाँ से अपने घर रवाना हो गए। घर आकर वे क्या देखते हैं कि उनकी दोनों पत्नियाँ शराब के नशे में बेसुध होकर अस्तव्यस्त वं अर्धनग्न अवस्था में पड़ी हुई हैं। उनके मुँह से फेन निकल रहे हैं और मुँह से मांस तथा मदिरा की दुस्सह दुर्गंध आ रही है।

यह देखते ही आषाढ़भूति का मन एकदम ग्लानि और खिन्नता से भर गया। वे सोचने लगे—अहो! मैंने इन स्त्रियों के लिये अपने अमूल्य सयम का त्याग किया किन्तु ये दोनों मेरे लिये मांस-मदिरा का भी त्याग नहीं कर

सकीं। उसी क्षण मानसिक परिणति में परिवर्त्तन हुआ। उनकी उसी क्षण काम-वासना शान्त हो गयी और उन्होंने गृहत्याग करने का विचार कर लिया।

जब विश्वकर्मा को यह सब ज्ञात हुआ तो उसने अपनी लड़कियों को बहुत फटकारा और उनसे आषाढ़भूति को न जाने की प्रार्थना करने के लिये कहा। रंभा और शची ने आषाढ़भूति से बहुत अनुनय-विनय की, अपने किये की क्षमा माँगी और कहा—आप अगर गृहत्याग कर चले जाएँगे तो हमारी आजीविका का क्या होगा ?

पर आषाढ़भूति तो दृढ़ निश्चय कर चुके थे। उनका चैतन्य जागृत हो चुका था। संयम में पुनः रुचि जागी और हृदय निर्मल हो गया। तनिक-सी ठोकर लगने की ही देर थी और वह अब लग चुकी थी। अतः उन्होंने अपने दृढ़ निश्चय को किसी मूल्य पर बदलना स्वीकार नहीं किया।

उसी रात्रि को उन्होंने अपने अंतिम नाटक का आयोजन किया। उसका नाम था 'विदा'। विदा नामक नाटक में उन्होंने भरत चक्रवर्ती की कथा जनता के सामने प्रदर्शित की। उसमें बताया गया कि भरत अपने आदर्श-भवन में बैठे हैं। उस समय उनके हाथ की अंगुलि से एक अंगूठी निकल कर गिर पड़ी। अंगूठी के निकल जाने से अंगुलि का सौन्दर्य कुछ कम हो गया। यह देखकर भरत ने विचार किया—अरे! क्या इस शरीर का रूप आभूषणों और वस्त्रों से ही है ? यह कृत्रिम हुआ, मुझे तो ऐसा सौन्दर्य आत्मा का चाहिये जो कभी भी म्लान न हो, कम न हो।

आषाढ़भूति ने भरत चक्रवर्ती के रूप में धीरे-धीरे एक-एक आभूषण उतारना प्रारम्भ किया। समस्त आभूषण पृथ्वी पर रख दिये। उसी क्षण उनके मन में विचार आया कि भरत तो उसी क्षण केवलज्ञान प्राप्त करके निकल गए थे। अगर मेरा हृदय भी इस क्षण में पूर्ण रूप से नहीं बदला तो भरत चक्रवर्ती का यह नाटक, जो मैं दिखा रहा हूँ, अपूर्ण ही रहेगा।

यह भावना मन में आते ही उन्हें आत्मबोध हो गया और वे भरत की तरह ही सब कुछ त्याग कर रवाना होने लगे। राजा ने कहा—आप कहाँ जा रहे हैं ? अपना पारितोषिक लीजिये। आषाढ़भूति ने आत्मिक सन्तुष्टि से परिपूर्ण हुए चहेरे पर हल्की सी मुस्कान लाते हुए कहा—राजन्! मैं वहीं जा रहा हूँ जहाँ भरत गए थे। अन्यथा मैं भरत का पार्ट पूर्ण रूप में कैसे आपके सामने रख सकूँगा !

नाटक का अवलोकन करने वाली जनता स्तब्ध हो गई। राजागण तथा सभासद् निर्वाक् व चकित रह गए। भरत के ऐसे सत्य अभिनय पर रंगमंच पर धन का अंबार लग गया और आपाढ़भूति के लिये सभी 'वाह-वाह' करने लगे।

बंधुओ ! इस कथा का उद्देश्य यही बताना है कि स्त्रीकथा करने से तथा स्त्री के रंग-रूप का अवलोकन करने से मनुष्य के हृदय में काम-वासना का जागरण होता है और वह भोग का दास बनकर विवेकभ्रष्ट हो जाता है।

विषयभोग विषतुल्य होते हैं, इनके कारण सिर्फ धन का ही नहीं वरन् बुद्धि और बल का भी सर्वनाश होता है। तुलसीदास जी ने कहा भी है:—

भोग रोग सम भूषण भारू यम यातना सरिस संसारू।

"He that lives in a kingdom of sense, shall die in the kingdom of sorrow."

अर्थात् जो वासना के साम्राज्य में जीता है, वह दुःख के साम्राज्य में मरेगा। कोई भी संसारी जीव कामवासना के चंगुल से नहीं बच पाता। देवता, मनुष्य, पशु तथा पक्षी सभी इस भयंकर व्याधि से ग्रस्त रहते हैं। वैमानिक, भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी सभी देवता विषयों के दास होते हैं। वे भी कामभोगों का सेवन करके महान् दृढ़ मोहनीय कर्म का बन्धन करते हैं। मनुष्य, देवता और पशु-पक्षियों की बात जाने दीजिए, एकेन्द्रिय होने के कारण जिनमें संज्ञा व्यक्त नहीं होती, जिनमें चैतन्य की मात्रा भी अत्यल्प होती है वे वृक्ष भी इस प्रलोभन से नहीं बच पाते। किसी शायर ने कहा भी है—

दरख्तों को सुखाता है, लिपटना इश्क पेचा।

इसीलिये धर्म मनुष्यों को विषय-वासनाओं से बचने के लिये कहता है। मन, वचन और कर्म से विकारों को दूर हटाने की आज्ञा देता है, इन्द्रियों पर संयम रखने के विधान बनाता है। इन्हीं विधानों में से एक है—स्त्रीकथा न करना तथा स्त्रियों के रूप, रग और अन्य विकारवर्धक विशेषताओं के विषय में वार्तालाप न करना। इन सब बातों का मुख्य उद्देश्य यही है कि स्त्री-कथा से बचकर मनुष्य अपनी वासना को उत्तेजित होने से बचाए।

कम-से-कम सामायिक जैसे महत्वपूर्ण काल में तो स्त्री-कथा का त्याग करना अनिवार्य है जिस प्रकार पुरुषों को 'स्त्री-कथा' का त्याग करना चाहिये

उसी प्रकार स्त्रियों को 'पुरुष-कथा' का भी परित्याग कर देना चाहिये। वह उनके लिए विकथा है। यह आत्मिक, मानसिक तथा नैतिक सभी प्रकार की उन्नति के लिये आवश्यक है। और इसीलिये ब्रह्मचर्य का विधान बनाकर जैन तथा जैनेतर सभी शास्त्रों ने इस व्रत की महिमा गाई है।

जो मनुष्य इन बातों पर ध्यान नहीं देते और सदा स्त्रीकथा करके, यानी स्त्रियों के विषय में व्यर्थ वार्तालाप करके अपने मन को काम-विकारों की ओर उन्मुख कर लेते हैं उन्हें भयंकर हानियाँ उठानी पड़ती हैं और अनेक दुष्परिणामों को भोगना पड़ता है। किसी कवि ने थोड़े ही शब्दों में किस प्रकार मनुष्यों को समझाने का प्रयत्न किया है ? वह कहता है : —

ज्ञानी हू को ज्ञान जाय, ध्यानी हू को ध्यान जाय।
मानी हू को मान जाय, सूरा जाय जंग ते॥
जोगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिधाई जाय।
बड़े की बड़ाई जाय, रूप जाय अंग ते॥
घर की तो प्रीति जाय, लोक में प्रतीति जाय।
त्याग बुद्धि मति जाय, विकल होय ढंग ते॥
संजम का विहार जाय, हानि का उपचार जाय।
जन्म सब हार जाय, काम के प्रसंग ते॥

सारांश यही है कि काम-विकार सर्वस्व का अपहरण करके इस अमूल्य जीवन को ही व्यर्थ बना देता है।

इसलिये मनस्वी प्राणी के लिये स्त्रियों के विषय में बात करना, उनकी ओर दृष्टिपात करना, उत्तेजक गीत सुनना, एकान्त में संभाषण करना तथा विकारोत्पादक आहार करना भी वर्जित माना गया है।

स्त्रीकथा को चार भागों में विभक्त कर दिया गया है। यथा जाति-कथा, रूपकथा, कुलकथा और नेपथ्यकथा। स्त्रियों से संबंधित समस्त विषय इन चार प्रकार की स्त्री-कथाओं में आ जाते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को इनमें से किसी प्रकार की अनिष्टकारी चर्चा नहीं करनी चाहिये।

सामायिक तथा साधना के अन्य काल में जिन कथाओं का करना वर्जित बताया गया है, उनमें भी प्रथम स्त्रीकथा है, जिसके विषय में बता चुका हूँ। दूसरी कथा है—भक्त-कथा'।

'भक्त' का अर्थ यहाँ भगवान की भक्ति करने वाला 'भगत' नहीं वरन् 'भोजन' समझना चाहिए। 'भक्त' का अर्थ 'भोजन' भी होता है। भक्त-कथा अर्थात् भात-कथा, 'भात' भक्त शब्द का अपभ्रंश है।

भोजन जीवन का एक अनिवार्य साधन है। भोजन किये विना कोई भी व्यक्ति अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता। जीवन-धारण के लिए भोजन करना ही पड़ता है। इसका निषेध नहीं किया जा सकता। किन्तु निषेध किया जाता है उसके पीछे रहने वाली लोलुपता का, अमर्यादा का, असंयम का, विवेकहीनता का।

संत-जन भोजन करते हैं किन्तु उनकी इस क्रिया के पीछे लोलुपता नहीं रहती। भोज्य पदार्थों के प्रति उनके मन में आसक्ति का सर्वथा अभाव होता है। साधु भिक्षा के लिए घरों में जाते हैं और जो कुछ भी रूखा, सूखा अथवा मेवा, मिष्टान्न प्रासुक और निर्दोष मिल जाता है उसे अनासक्त होकर ग्रहण करते हैं।

भोजन करते समय न वे मन में सोचते हैं और न कहते हैं कि अमुक पदार्थ स्वादिष्ट है और अमुक नीरस या निस्वाद। शरीर साधन के लिए आवश्यक है और शरीर रखने के लिये उसे आहार देना आवश्यक है। सिर्फ इसलिए वे भक्ति-भाव से दिया हुआ संयमाविरोधी जो कुछ भी मलता है उसे उदरस्थ करते हैं। आहारप्राप्ति के लिये न तो वे अमीरों के द्वार खटखटते हैं और न किसी तरह उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। शांत और चंचलता रहित चित्त से वे भिक्षा प्राप्त करने के लिये निकलते हैं और अमीर का या गरीब का जो भी घर रास्ते में आ जाए उससे अपने नियमानुसार निर्दोष भिक्षा ग्रहण करते हैं। प्रेम और भक्ति से दी हुई रूखी रोटी और चने भी वे सहज भाव से ग्रहण करते हैं पर गर्व तथा तनिक भी उपेक्षा से दिये जाने वाले मिष्टान्न और सुस्वादु पदार्थों की ओर वे दृष्टिपात भी नहीं करते। इसी भाव को लेकर रहीम ने कहा है :—

अमिय पियावत मान विन, रहिमन मोहि न सुहाय।
मान सहित मरिवो भलो, जो विष देय बुलाय॥

यह तो हुई संत जनों की वात। किन्तु श्रावक तथा अन्य साधारण जनों के लिये भी अहर्निश भोजन संवंधी चर्चा करना तथा सुस्वादु भोज्य-सामग्रियों के लिए ही हाय-हाय करना अनुचित है। यह सत्य है कि भोजन

किये विना शारीरिक और मानसिक शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती और न साधना की जा सकती है, जैसा कि कहा जाता है-

भूखे भगति न होई गोपाला ।
यह लो अपनी कंठी माला ।।

किन्तु पेट भरने को ही जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य मान लेना, उसी को जीवन का चरम लक्ष्य समझना मनुष्य की भारी भूल है । जीवन का लक्ष्य भर पेट खाना और सोना नहीं है, वरन् सात्विक और आवश्यक आहार लेकर शरीर को साधन के योग्य बनाए रखना है ।

संसार में अनेक पेटू व्यक्ति देखे जाते हैं, जो आवश्यक से भी अधिक खाकर अपने शरीर को रोगों का घर बना लेते हैं । परिणामस्वरूप उनका मस्तिष्क जड़ हो जाता है और दिमाग-शक्ति नष्ट हो जाती है । ऐसे व्यक्ति न इस लोक में ही सुख पाते हैं और न परलोक में ही । इसके विपरीत संसार में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो स्वयं भूखे रहकर भी अपना भोजन अपने से अधिक आवश्यकता वाले मनुष्यों को अथवा पशु-पक्षियों तक को प्रदान कर देते हैं ।

एक शूद्र अपनी स्त्री और दो बच्चों का पेट बड़ी ही कठिनाई से भर पाता था । कभी-कभी तो उसे सपरिवार उपवास करना पड़ता था । एक बार उसे दो दिन उपवास करना पड़ा और उसके बाद बड़ी ही कठिनाई से सिर्फ छः आने की मजदूरी मिली ।

उस छः आने से वह थोड़ी दाल और चावल खरीद कर घर ले जा रहा था । रास्ते में घाट पर देखा कि एक ब्राह्मण अत्यन्त उदास भाव से खड़ा है । शूद्र ने कारण पूछा तो उसने बताया कि तीन दिन से उसके बाल-बच्चों को एक दाना भी अन्न का नहीं मिला है । अगर आज भी भिक्षा नहीं मिली तो बच्चे मर ही जाएँगे ।

शूद्र दुर्गा का परम भक्त था । अपने दुःख भूल कर उसने दुर्गा को स्मरण किया और वह चावल दाल की पोटली उस दरिद्र ब्राह्मण को दे दी । घर आकर अपनी पत्नी से कहा—आज फिर एकादशी समझो । कल मां दुर्गा की कृपा हुई तो पारणा कर लेंगे । उसकी पत्नी सच्ची पतिव्रता थी । पति की बात को मानकर उसने भी दुर्गा माँ का स्मरण किया और दोनों भगवान् का स्मरण करने बैठ गए ।

तात्पर्य यह है कि जिनके हृदय में खाद्य पदार्थों के प्रति लोलुपता और आसक्ति नहीं होती, जो उदार और दयालु होते है, वे स्वयं भूखे रह कर भी अपना भोजन विना हिचकिचाहट के दूसरों को दान कर देते हैं। उनके लिए भोजन गृद्धता की वस्तु नहीं होती। उनकी जिह्वा स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने के लिए वावली नहीं होती। आचारांग सूत्र में कहा है—

हे साधक! जव तू भोजन करने वैठता है तो स्वाद की दृष्टि से कोई भी वस्तु एक जवड़े से दूसरे जवड़े पर मत ला।

जिस व्यक्ति का अपनी जिह्वा इन्द्रिय पर नियंत्रण नहीं होता उसमें तथा पशु में कोई अन्तर नहीं होता। पशु के सामने जव भी कोई वस्तु रख दी जाए वह फौरन उसमें मुंह डाल देता है। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो खाद्य-अखाद्य का विचार किये विना रात्रि में भी, जव तक निद्राधीन नहीं हो जाते, कुछ न कुछ खाते रहते हैं और प्रात:काल शय्या त्यागने से पूर्व ही चाय आदि से खाना-पीना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसी स्थिति में पशुओं में और उनमें क्या फर्क मानना चाहिए ?

भारतीय संस्कृति में प्रात:काल चार वजे का समय ब्राह्ममुहूर्त का माना गया है। वह समय चिन्तन. मनन, ध्यान. तथा स्वाध्याय आदि पवित्र कार्यो के लिये होता है। उस शुभ समय को भी आप धुंआ निकालते-निका--लते व्यतीत कर दें तो क्या यह आपके लिए उचित होगा ? मध्याह्न का तथा संध्या का समय भी इसी प्रकार पवित्र कार्यों के लिए होता है। सिर्फ खाने के लिए अथवा खाने-पीने की चर्चा करने के लिये नहीं। खाने का समय कौन-सा है, और कौन सा नहीं, इस वात का पूरा ध्यान रखें। दिन में असमय में भोजन न करें और रात्रि को तो पूर्ण रूप से भोजन का त्याग करें। रात्रि को भोजन करने से अनेकानेक सूक्ष्म जीवों का, जो कि अधिक प्रकाश होने पर भी दिखाई नहीं देते, घात तो होता ही है, साथ ही खाने और तुरंत सो जाने से स्वास्थ्य की खरावी हो जाती है।

शरीर में रोग होने पर मन भी रोगी हो जाता है और उससे प्राय: मनुष्य की धर्मवुद्धि नष्ट हो जाती है। धर्मवुद्धि का नाश हो जाने पर मनुष्य महान् नहीं वन सकता। अल्पाहारी तथा नियत समय पर परिमित एवं सात्विक भोजन करने वाला व्यक्ति ही मन पर नियंत्रण रख सकता है। जो मनुष्य अपनी जिह्वाइद्रिन्य को वश में रखता है वह अनेक वुराइयों से वच जाता है।

वंधुओ ! नियमित समय पर भोजन करने के साथ ही साथ आपको यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भोजन सात्विक तथा शुद्ध हो ! तामस आहार करने वाला मनुष्य रोगी, दुःखी, बुद्धिहीन, क्रोधी, तथा धीरे-धीरे अधर्मी वन जाता है। एक पश्चिमी विद्वान ने कहा है:—

If you can conquer your tongue only, you are sure to conquer whole body and mind ease.

अर्थात् यदि तुम केवल अपनी रसेन्द्रिय को वश में कर सको तो तुम्हारा मन और शरीर अनायास ही वश में हो जाएगा।

भोजन की शुद्धि से भी मन की शुद्धि का सम्वन्ध है। पाप, अन्याय तथा अधर्म की कमाई के द्वारा उपार्जन किये हुए धन से अगर पेट भरा जाए तो वह भोजन क्या मन को पवित्र वना सकता है ? कभी नही। कहते भी हैं–

जैसा अन्न जल खाइये तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये तैसी वानी होय ॥

वास्तव में सात्त्विक तथा अल्प मात्रा में किया गया भोजन ही मानव को स्वस्थ वना सकता है। वह उसके चित्त को शुद्ध वनाकर साधना के योग्य वनाता है। अधिक खाने वाला लोलुप व्यक्ति मन से शुद्ध व निष्पाप नहीं रह सकता। एक संस्कृत कवि ने अधिक आहार करने से होने वाली हानियाँ वताई है: —

अनारोग्यं, अनायुष्यं अस्वर्ग्यंचाऽति भोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्द्वष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

अतिभोजन रोगों को वढ़ाने वाला, आयु को घटाने वाला, नरक में पहुँचाने वाला, पाप कराने वाला, जग में निन्दित वनाने वाला होता है, अतः अतिभोजन का त्याग करना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को कभी अशुद्ध और अनियमित आहार नहीं करना चाहिए और आहार के प्रति गृद्धता या लोलुपता नहीं रखनी चाहिये। अगर मनुष्य भोज्य पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं रखेगा तो प्रत्येक समय भोजन की तथा भोज्य प्रदार्थों संवंधी अनावश्यक चर्चाओं से भी वचता रहेगा। ऐसी चर्चा प्रत्येक समय तथा विशेषकर सामायिक, स्वाध्याय तथा चिन्तन के समय करना अत्यंत गर्हित है। इसलिए भक्तकथा स्थानांग सूत्र में चार प्रकार की वताई गई है। (१) 'आवाप कथा'-अर्थात् आज जो रसोई वनी है

उसमें मिर्च मसाले आदि क्या २ और कितना सामान व्यय हुआ है, इसकी चर्चा करना। (२) 'निर्वाप कथा'-उसे कहते हैं जिसमें बनी हुई मिठाइयाँ अथवा पूरी-कचौरी आदि अन्य वस्तुएँ कैसी बनी हैं, इसकी चर्चाएँ की जाती हैं। (३) 'आरम्भ कथा'-इसमें वनस्पति आदि का कितना उपयोग हुआ इस प्रकार का वार्तालाप होता है। तथा (४) 'मिष्टान्न कथा' वह कहलाती है जिसमें घृत के विषय में वातचीत की जाती है, कि घृत कितना व्यय हुआ और वह किस प्रकार का था। इस प्रकार की विकथाएँ करके मनुष्य अपने समय का व्यर्थ ही दुरुपयोग करते हैं। इनसे अवश्य बचना चाहिये।

विकथाओं में तीसरी 'देश-विकथा' अर्थात् देश विदेश संबंधी अनावश्यक बातें करना है। इसका भी विषय चार विभागों में बाँटा गया है।

प्रथम 'देशविधि' कथा के रूप में है। अर्थात् किस देश में कैसी कथोक्तियां प्रचलित हैं, किस प्रकार की कलाकृतियां निर्मित की जाती हैं, कैसे-कैसे कलाकार होते हैं, भोजन विधियां किस तरह की होती हैं, खाद्यपदार्थ कैसे होते हैं, किस प्रकार के आभूषण पहने जाते हैं, और किन वस्तुओं के बनाए जाते हैं, आदि-आदि चर्चा करना।

दूसरी कथा 'देश विकल्प कथा' कहलाती है। अमुक देश में धान की उपज कैसी और कितनी होती है, फसल एक वर्ष में कितने बार पैदा होती है आदि निरर्थक बातें करना। जैसे बीकानेर फलौदी तथा खीचन की तरफ रेगिस्तान है। वहां गेहूँ, चने आदि की पैदावार नहीं होती, इसका तो सवाल ही नहीं है। उधर चातुर्मास में ही सिर्फ एक फसल पैदा होती है। एक एक खेत में कई कई मन अनाज निकलता है। इस प्रकार की बातें 'देश विकल्प' कथा में आती हैं।

तीसरी है 'देशछन्द कथा'। अमुक देश के व्यक्ति कितने स्वच्छंद होते हैं ? उनकी स्वच्छंदता के क्या कारण हैं ? कहां किन बातों को लोग बुरा मानते हैं और किन बातों को नहीं ? जैसे अमुक देश में मामा की पुत्री से विवाह करना बुरा नहीं माना जाता, अमुक देश में एक स्त्री कई भाइयों से एक साथ विवाह करके रहती है, और अमुक देश में पुरुषों की जगह स्त्रियां व्यापार-व्यवसाय आदि बाहरी कार्य करती हैं। पुरुष को गृहकार्य करने पड़ते हैं। इस प्रकार की समस्त बातें 'देशछन्द कथा' के अन्तर्गत आती हैं।

चौथी है 'देशनेपथ्य कथा'। प्रत्येक देश में रीति रिवाज भिन्न भिन्न होते

हैं। वस्त्रपरिधान, साजशृंगार, वेषभूषा, अलंकारधारण आदि की प्रथा विभिन्न प्रकार की होती है। इन सब बातों पर निरर्थक चर्चा करना 'देशनेपथ्य कथा' कहलाती है।

ऐसी बातें करने से कभी-कभी व्यर्थ ही अनर्थ हो जाता है। एक मनुष्य अपने देश व प्रान्त की संस्कृति को उच्च बनाता है और दूसरा व्यक्ति अपने देश की संस्कृति को। दोनों अपने देश को उच्चता के शिखर पर आसीन करना चाहते हैं। वार्तालाप का परिणाम क्या होता है? प्रथम तो गाली-गलौज, उसके पश्चात् हाथापाई, और हाथापाई के बाद कभी-कभी सिर फूटने की अथवा हाथ पैर टूट जाने की भी नौबत आ जाती है। और इसके भी बाद यह होता है कि फिर उन व्यक्तियों में अनेक वर्षों तक और कदाचित् जन्म भर पुनः बोलचाल नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त आत्मा प्रगाढ राग-द्वेष के बोझ से दबी हुई नीच गति की ओर प्रयाण करती है।

कितनी अज्ञानता है आज मानव के मन में? वह यह नहीं सोच पाता कि भिन्न-भिन्न प्रदेश के मनुष्यों का पहनावा अलग प्रकार का है तो क्या, उनके रीति-रिवाज भिन्न हैं तो क्या? आत्मा तो सभी की एक तरह की है। अगर आत्मा में निर्मलता है तो मनुष्य उच्च है। आत्मिक निर्मलता के अभाव में देश, जाति, सम्प्रदाय आदि से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

आजका मनुष्य अपने सम्प्रदाय को, अपनी जाति को, अपने धर्म को अपने शास्त्रों को उच्च मानता है। उनकी उच्चता साबित करने के लिए रक्त की नदियां तक बहा देता है। उससे क्या लाभ प्राप्त होता है? क्या मंदिर और मसजिद में धर्म विद्यमान है? क्या गुरुद्वारे और गिरजाघर में धर्म रहता है? क्या स्थानक और उपाश्रयों में धर्म का डेरा है? नहीं!! धर्म आत्मा में ही निवास करता है। शुद्ध हृदय वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है, और प्रत्येक साधु-पुरुष उसका अनुभव कर सकता है।

आज तो इस बात को लेकर भी मतभेद होते रहते हैं कि सच्चे साधु कौन हैं? प्रत्येक व्यक्ति अपने संप्रदाय-गच्छ को और अपने मान्य साधुओं को उच्च मानता है, श्रेष्ठ और चरित्रशील समझता है। दूसरे सभी उसकी दृष्टि में शिथिल हैं। कितनी शोचनीय बात है?

गेरुआ अथवा श्वेत वस्त्र पहनने से, त्रिशूल धारण कर लेने से, शरीर पर तिलक और छापे लगा लेने से अथवा नाना प्रकार के काय-क्लेशों

को अपना लेने से ही कोई साधु नहीं बन जाता। जब तक कोई अपने मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं कर लेता, राग, द्वेप, ईर्ष्या तथा मात्सर्य आदि आन्तरिक दुर्वृत्तियों पर विजय प्राप्त नहीं करता और जब तक संसार के समस्त प्राणियों के लिये उसके हृदय में करुणा और प्रेम का निर्झर नही प्रवाहित होता तब तक उसमें साधना का प्रादुर्भाव नहीं होता। शास्त्रों में भी कहा है—"लोए लिंगप्पयोअण" बाह्य वेप से आत्मा का कल्याण नहीं होता। आत्मकल्याण के लिये तो आध्यात्मिक साधना ही कार्यकारिणी होती है। शास्त्रों में बताया गया है:—

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण वम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥

— उत्तराध्ययन सू० अ० २५

अर्थात् केवल सिर मुंडाने से कोई साधु नहीं वन जाता। 'ओं' रटने से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता है, अटवी में निवास कर लेने से ही कोई मुनि नहीं हो सकता है. और घास विशेप का वस्त्र पहनने से तपस्वी नहीं कहला सकता। किन्तु—

समयाए समणो होइ, वम्भचेरेण वम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥

—उत्तराध्ययन सू० अ० २५

अर्थात् समभाव से श्रमण-साधु, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त विश्व के समस्त धर्मों, सम्प्रदायों, मतों तथा दर्शनों का यथोचित रूप में समन्वय करता है। वह विश्व को यह शिक्षा देता है कि जगत् के सभी दर्शन किसी अपेक्षा से सत्य के ही अंश हैं किन्तु जब एक अंश दूसरे अंग से न मिलकर उसका तिरस्कार करता है तो वह विकृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह दर्शन अपने अनुयायियों के लिये पत्थर की नौका वन जाता है, पार उतारने के लिये काष्ठ की नौका नहीं वन पाता। एक सरल उदाहरण से आप इस विपय को समझें।

एक गांव में कुछ अन्धे रहते थे। संयोगवश उस गांव में एक वार एक हाथी आ गया। लोगों के मुँह से हाथी का वर्णन सुनकर वे अन्धे हाथी को

देखने के लिये गए। उनमें से किसी ने उसका पैर पकड़ा, किसी ने सूंड़ पकड़ी। किसी ने पूंछ को हाथ लगाया और किसी ने पेट को टटोला। अपने-अपने हाथ में आए हुए हाथी के एक-एक अवयव को ही वे पूरा हाथी समझने लगे। पैर टटोलने वाले ने हाथी को स्तम्भ के समान समझा, सूंड़ पकड़ने वाले ने मूसल के समान समझा, कान पकड़ने वाले ने सूप के समान और पूंछ पकड़ने वाले ने मोटे रस्से के समान मान लिया।

अन्धे अपने-अपने अनुभव के आधार पर हाथी के एक-एक अवयव को ही सम्पूर्ण हाथी समझते हुए जब आपस में मिले और उनके अनुभव परस्पर विरोधी प्रकट हुए तो वे आपस में विवाद करने लगे। सभी एक-दूसरे को झूठा बताने लगे। बस, ठीक यही हाल एकान्तवादी दर्शनों, धर्मों या मतों का है।

उक्त जन्मान्धों का कथन जिस प्रकार एक-एक अंश में सत्य अवश्य है किन्तु जब वे दूसरों को झूठा बताते हैं तो सभी झूठे बन जाते हैं। इसी प्रकार संसार के विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय सत्य व धर्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ज्ञान की अपूर्णता के कारण वे वस्तु के एक अंश को ही प्राप्त कर पाते हैं और धर्म तथा सत्य के एक अंश को ही जब पूर्ण समझ लेते हैं तो आपस में विवाद करने लगते हैं और झगड़े खड़े कर लेते हैं।

धर्म के क्षेत्र में आग्रह न करके दर्शन सभी अपने-अपने सिद्धान्तों को हाथी के अवयवों को इकट्ठा करने के समान एक कर लें तो वास्तव में वह वस्तु का पूर्ण रूप हो जाएगा और वस्तु का सच्चा स्वरूप सभी के सामने आ जाएगा। किन्तु एक-दूसरे को झूठा बताने पर अन्धों के समान सभी मतवादी झूठे साबित होते हैं। इसलिये प्रत्येक पन्थवादी को उदारतापूर्वक अपने मत की तरह अन्य मतों को भी सत्य का एक-एक अंश मानना चाहिये। तभी धर्म बिखरा हुआ होकर भी विद्यमान रहेगा और वह गलत साबित नहीं होगा।

आज मनुष्य व्यर्थ के विवादों में पड़कर अपनी श्रद्धा और विश्वास को विकृत बना रहे हैं। कितनी शोचनीय बात है ? कोई मनुष्य गंगा में अपनी नाव चलाये या यमुना में, आखिर तो दोनों समुद्र में ही जाएँगे। फिर भी कोई कहे कि गंगा में जाने से ही समुद्र में जाया जा सकेगा, यमुना में जाने से नहीं, तो क्या यह ठीक माना जा सकेगा ?

सत्य तो यह है कि चाहे जिस मार्ग से क्यों न जाया जाये पर सम्यक्त्व

चरित्र-रूपी नाव दृढ़ अथवा दूसरे शब्दों में अभेद्य होनी चाहिये। वह अपने ध्येय पर पहुँच जाएगा। अतः यह विचार करना कि हम जिस मार्ग से जा रहे हैं वही मार्ग सच्चा और अच्छा है, दूसरा नहीं, नितान्त भ्रामक है।

महानुभावो ! आप समझ गए होंगे कि ऐसे व्यर्थ के मतभेद और विवाद ही विकथाओं का रूप ले लेते हैं और मनुष्यों के मन कषायों से परिपूर्ण होकर अस्थिर हो जाते हैं। ऐसे मन को लेकर चिंतन-मनन होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव होता है। अतः इनसे बचने का ही सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये।

विकथा का चौथा भेद है राजकथा। वर्तमान समय में इस देश में भिन्न भिन्न राजा और उस प्रकार के राज्य रहे नहीं। प्राचीन काल में भारत अनेक राज्यों में बंटा हुआ था। प्रत्येक राज्य का एक राजा होता था और उसकी शान-शौकत, अन्याय अथवा न्यायपूर्ण स्वभाव, उसकी सेना और सरदार आदि आदि सभी कुछ चर्चा के विषय बने रहते थे।

योग्य राजा के राज्य की जनता उसके गुणगान किया करती थी और अयोग्य राजा की प्रजा दुखी होकर राजा की बुराइयाँ करती थी। कुछ भी हो राजा व राज्य का बहुत महत्त्व था और प्रजा के लिये राज-चर्चा करना स्वाभाविक भी था, क्योंकि दयालु तथा योग्य राजा के राज्य में ही प्रजा सुखी और संतुष्ट रह सकती थी। रामायण में कहा है:—

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता-पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥

अर्थात् राजा सत्य है, राजा धर्म है, राजा कुलीन पुरुषों का कुल है, राजा ही माता पिता है, तथा राजा समस्त मानवों का हित-साधन करने वाला है।

और इसके विपरीत दुष्ट राजाओं के विषय में तुलसीदास जी ने कहा:—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवसि नरक-अधिकारी।

अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहती है, वह राजा निश्चय ही नरकगामी होता है।

तात्पर्य यह है कि राज्य संबंधी चर्चाएँ सदा से होती चली आती हैं और मनुष्यों का बहुत सारा समय इनकी चर्चा करने में जाता रहा है। किन्तु मनुष्य को विचार यह करना चाहिये कि चर्चाएँ चाहे किसी भी प्रकार की हों, स्त्री-संबंधी, भोजन संबंधी, देश संबंधी अथवा राज्य संबंधी, उनके कारण बहुत सा अमूल्य समय व्यर्थ जाता है। और उन निरर्थक वार्ताओं से आत्मा को कुछ भी लाभ हासिल नहीं होता। राजा बुरा हो अथवा अच्छा, वह आत्मा की कोई अच्छाई अथवा बुराई नहीं कर सकता। इसी प्रकार उससे संबंधित व्यर्थ वार्तालाप करते रहने पर भी समय का सदुपयोग नहीं हो सकता और साधना में विघ्न पड़ता है।

राजकथा संबंधी विषयों को भी चार भेदों में समझाया गया है। (१) अतियान कथा (२) निर्याण कथा (३) बलवाहन कथा और (४) कोष-कोष्ठागार कथा।

अतियान कथा का विषय होता है राजा का नगर में प्रवेश करना। कोई भी राजा किसी भी कार्यवशात् नगर से बाहर अल्प अथवा अधिक समय के लिये बाहर जाता है तो उसके लौटने पर नगर निवासी तथा राज्य कर्मचारी किस प्रकार महान् समारोह के साथ उसके स्वागत की तैयारियाँ करते हैं। जब राजा किसी युद्ध से विजय प्राप्त करके लौटता है तो जनता प्रसन्नता से पागल होकर जयनाद करती हुई उसे नगर में लाती है और मंगल वाद्यों के साथ धूम-धाम से राजभवन की ओर ले जाती है, इस प्रकार की कथा अतियान कथा कहलाती है।

भरत चक्रवर्ती ने साठ हजार वर्ष तक देश-साधना की, और उसके बाद वे जब लौटे तो ज्योतिषियों ने बताया कि नगरप्रवेश का मुहूर्त चालीस वर्ष बाद आएगा। यह कोई असंभव बात नहीं है, क्योंकि भरत की तो आयु ही 'चौरासी लाख पूर्व' की थी। तो उनके नगर में प्रवेश करने से पूर्व कितनी साज-सज्जा तथा तैयारियाँ की गई होंगी। इसप्रकार का वर्णन अतियान कथा का विषय है।

दूसरी कथा कहलाती है ,निर्याण-कथा'। इसमें राजा के नगर से बाहर जाने की चर्चाओं का समावेश होता है। विभिन्न त्यौहारों पर, वसन्त ऋतु में मनोरंजनार्थ अथवा अन्य देश पर आक्रमण करने के हेतु जब राजा नगर से बाहर जाया करते थे तब भी अनेक प्रकार के समारोह होते थे। उनकी चर्चा-वार्त्ता निर्याण कथा है।

तीसरा भेद राजा की शक्ति से संबंधित है। अमुक राजा इतना शक्तिशाली है, उसके पास इतनी सेना, इतने हाथी-घोड़े आदि हैं, इत्यादि वर्णन बलवाहनराजकथा है।

चौथा विषय है—कोष-कोष्ठागार संबंधी। धन-धान्य से परिपूर्ण कोठे तथा द्रव्य से परिपूर्ण खजाने राज्य की शोभा होते हैं। इसके बिना राज्य नहीं कहला सकता। प्रतापी तथा पुण्यवान राजा के राज्य में कोई भी अभाव नहीं होता। इसी से उसके शासन को राम-राज्य कहते हैं। 'मानस' में कहा गया है:—

दैविक दैहिक भौतिक तापा,
रामराज्य काहुंहि नहीं व्यापा ॥

वास्तव में जहाँ राम-राज्य होता है वहाँ प्रजा को कोई तकलीफ और किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। प्रजा ऐसे राज का गुणगान करती है और उसके लिये मंगलकामना करती है। मगर देश-देश के राजाओं के कोष और कोठार की निरर्थक चर्चा में समय नष्ट करने से साधक का कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता।

राज्य के वास्तविक कल्याण के विषय में सुझाव देना, उसके दोषों की आलोचना सद्भावनापूर्वक करना अलग बात है किन्तु राग-द्वेषवर्धक व्यर्थ चर्चा करना दूसरी बात है। इस विकथा में राजाओं संबंधी ऐसी चर्चा का ही निषेध किया गया है।

वैसे भी गृहस्थ को अपनी जीविका के उपार्जन संबंधी कार्यों के कारण आत्मोन्नति के लिये समय अत्यन्त कम मिल पाता है, किन्तु जो कुछ भी समय वे किसी तरह निकालते हैं उसको भी पूर्ण रूप से आध्यात्मिक क्रियाओं में इन विकथाओं के कारण नहीं लगा पाते।

परिणाम यह होता है कि यह अनमोल मानव जीवन व्यर्थ की विकथाओं में, वाद-विवादों में और छिद्रान्वेषणों में ही व्यतीत हो जाता है और जीवन के अन्त में जब कि समय नहीं बचता तब पश्चात्ताप करना पड़ता है। इसीलिये एक पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं:—

"Do not squandea time, for that is the stuff is made of."

— फ्रैंकलिन

वास्तव में ही जीवन का एक एक क्षण अमूल्य है और इनको एक-एक करके व्यर्थ खोते जाना जीवन रूपी रत्न-मंजूषा में से एक-एक अनमोल रत्न फैंकते जाने के समान है। इसलिये बंधुओ ! इनका मूल्य समझो और एक क्षण भी बर्बाद मत करो ! एक पल भी व्यर्थ मत खोओ !!

[७]

दृढ़ मनोबल

आज हम स्थानांग सूत्र की एक चौभंगी के विषय में विचार करने और उस पर किंचित् विवेचन करने जा रहे हैं। इस चौभंगी में दो शब्द मुख्य हैं— प्रथम 'कृश' और द्वितीय 'दृढ़'। इन दोनों शब्दों के आधार पर ही चौभंगी का निर्माण किया गया है।

इसमें बताया गया है कि किसी व्यक्ति का शरीर भले ही कृश हो किन्तु उसका मनोबल अगर दृढ़ हो तो वह कर्मरिपुओं को परास्त कर सकता है और साधना की सर्वोच्च श्रेणी को पार करता हुआ अक्षय सुख का अधिकारी बन सकता है। किन्तु इसके विपरीत अगर व्यक्ति का मनोबल दृढ़ न हुआ तो शरीर सशक्त व दृढ़ होने पर भी उसको कर्म-शत्रु परास्त कर सकते हैं और अपने समक्ष नतमस्तक करके उसे निस्तेज बना देते हैं। परिणामस्वरूप जीव को जन्म-जन्मान्तरों तक अनेकानेक दुखों का, कष्टों का तथा संकटों का सामना करना पड़ता है और यह मानव-पर्याय निष्फल चला जाने के कारण फिर भव-भ्रमण समाप्त होना कठिन हो जाता है।

आत्मा की दृढ़ता शरीर की दृढ़ता पर निर्भर नहीं होती। वह चाहे कृश शरीर में हो अथवा दृढ़ शरीर में, उसका क्षयोपशम जितना तीव्र होगा वह उतना ही अधिक ज्ञान दर्शन प्राप्त कर सकेगा। ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति का, शरीर नहीं वरन् पूर्ण रूप से क्षयोपशम ही कारण होता है।

आत्मा की पवित्रता के लिये शरीर की दृढ़ता अथवा सौन्दर्य कोई मूल्य नहीं रखता। शरीर का वास्तविक मूल्य साधना से निर्धारित होता है। जो शरीर आत्मा की साधना में सहायक बनता है वही मूल्यवान कहलाने का अधिकारी है। इसके विपरीत, जो शरीर आत्मा को नरक के द्वार पर पहुँचा देता है और भव-भ्रमण को बढ़ा देता है वह कितना भी रूप-सम्पन्न क्यों न हो, उसका कोई मूल्य नहीं है। अतः उसके लिये मनुष्य का अहंकार करना सर्वथा वृथा है। कहा भी है:—

"है बाहर का रूप मनोरम, सुन्दरता साकार,
बहिर्दृष्टि मोहित होते हैं, विनय विवेक विसार ।
इसी से बढ़ता है संसार, मानव अहंकार बेकार।

भावार्थ है कि शरीर कितना भी मनमोहक व सुघड़ हो पर उसके वशीभूत होकर अगर मानव विनय, विवेक आदि गुणों को भूल कर पर-पदार्थों में आसक्त रहता है तो उससे संसार बढ़ता ही है, घटता नहीं। और इसलिये ऐसा शरीर आत्मा के लिये शत्रु ही साबित होता है, मित्र नहीं। दूसरे शब्दों में अहित-कारी बनता है, हितकारी नहीं।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप तो मनुष्य को ही नहीं वरन् कीट-पतंगों को, यहाँ तक कि निगोद में रहने वाले जीवों को भी प्राप्त है, परन्तु उस शुद्ध स्वभाव पर आवरण आए हुए हैं। उन आवरणों की विकृतियाँ तथा मलीनताएँ दूर नहीं होतीं। दूसरे शब्दों में उन मलीनताओं को अथवा विकृतियों को ही हम आत्मा पर छा जाने वाले आवरण कह सकते हैं ।

आत्मा में आई हुई विकृतियाँ अनादि होने पर भी सान्त है। अर्थात् उनका अन्त किया जा सकता है और इसलिये आत्मा को दृढ़ता की आवश्यकता होती है। आत्मा में जो भी कषाय, वासनाएँ अथवा विकृतियाँ हैं वे उसका स्वा-भाविक रूप नहीं हैं और इसलिये उनका आत्मा से संबंध अनादि होने पर भी अनन्त नही है। इनका अन्त हो सकता है और अन्त करने में जो आत्मा समर्थ होती है वही दृढ कहलाती है। इस दृढ़ता को समझाने के लिये ही स्थानांग के चौथे स्थानक में यह सूत्र वर्णित है:—

"चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा—
(१) किसे नामेगे किसे (२) किसे नामेगे दढे (३) दढे नामेगे किसे (४) दढे नामेगे दढे ।"

इस चौभंगी में बताया गया है—

(१) कोई पुरुष ऐसा होता है जो पहले भी शरीर से कृश होता है और उसके बाद में भी कृश (दुर्बल) ही रहता है । इसके अलावा ऐसा मनुष्य भी इस श्रणी में आता है जो शरीर से तो कृश होता ही है किन्तु आत्मिक शक्ति से भी कृश (हीन) ही बना रहता है। तात्पर्य यह है कि शरीर से भी दुर्बल तथा साधना की शक्ति से भी जो दुर्बल होता है वह व्यक्ति इस भंग में गिना जाता है।

शरीर तथा मन की कृशता के विषय में यह जानना चाहिए कि शरीर की दुर्बलता अनेक ऐसी परिस्थितियों के कारण होती है जिन पर मनुष्य का वश नहीं होता। किन्तु मन की दुर्बलता को निकाल देना मनुष्य की दृढ़ इच्छा-शक्ति पर अवलंबित है। स्वयं को अशक्त समझना हीनता का द्योतक है और हीनता असफलता का कारण है। कहते भी हैं—"मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।"

हिम्मत हार जाना असफलता की निशानी है। निराश तथा साहसहीन व्यक्ति न तो शरीर संबंधी और न ही आत्मा संबंधी, किसी भी क्षेत्र में प्रगति कर सकता है। वह कभी भी अपने इच्छित कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कहा गया है—

"मन के लंगड़े को असंख्य देवता भी मिलकर नहीं उठा सकते।"

(२) चौभंगी का दूसरा भंग है—'किसी नामेगे दढे'। अर्थात् जो व्यक्ति शरीर से महादुर्बल होते हुए भी आत्मिक शक्ति से प्रबल होता है, उसका नाम इस सूत्र के साथ जोड़ा जा सकता है।

हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त कमजोर होते हुए भी मनोबल की दृष्टि से बड़े दृढ़ होते हैं। महात्मा गांधी जी में शारीरिक शक्ति कितनी थी? हड्डियाँ, पसलियाँ गिनी जा सकें, इतने वे कृश थे। किन्तु उनकी आत्मिक शक्ति इतनी दृढ़ थी कि जिसने भारत का नक्शा ही बदल दिया और सारे संसार के अन्य देशों को दांतों तले अंगुली दबानी पड़ी।

ज्ञाता सूत्र में अरणक-अर्हन्नक श्रावक का वर्णन आता है, जिन्होंने शरीर की ममता छोड़ दी किन्तु धर्म नहीं छोड़ा। बताया गया है कि एक बार देव-राज इन्द्र ने कौतूहलवश अपने अवधिज्ञान द्वारा देखा कि दक्षिण भारत में समुद्र के मध्य में अरणक श्रावक के जहाज जा रहे थे और जहाज के ऊपरी हिस्से में अरणक ध्यान में लीन थे।

उनकी इस दृढ़ता पर इन्द्र ने अपनी देवसभा में सिंहासन पर बैठे-बैठे ही उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

यह देखकर एक देव को ईर्ष्या हुई और उसने इन्द्र द्वारा सम्मानित अरणक श्रावक की परीक्षा लेने की ठान ली। बात-बात में वह मध्य लोक में आ पहुँचा और उनपर अपनी शक्ति का प्रयोग करना आरम्भ किया।

प्रथम तो देवता ने अपना रूप बड़ा ही विकराल बनाया और मुँह से मानों ज्वालाएँ निकालते हुए जहाज पर आक्रमण किया। सारे जहाज के व्यक्ति भय से थरथरा गए किन्तु धन्य है अरणक श्रावक को, जिन्होंने कि उसे एक उपसर्ग मानकर अपनी ध्यानावस्था को दृढ़ कर लिया। मरणभय से भी वे विचलित नहीं हुए।

अंत में देव ने उनसे यह आग्रह किया कि वे सिर्फ धर्म को छोड़ दें, और छोड़े भी नहीं तो सिर्फ जिह्वा मात्र से ही यह उच्चारण कर दें कि वे धर्म छोड़ते हैं।

किन्तु अरणक ने कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं। किसी भी भाँति वे डिगे नहीं। देव ने उनके जहाज को पानी में बहुत ऊपर उठा लिया और उसे सागर के तल में डुबा देने की धमकी दी। सारे जहाज के व्यक्ति एक स्वर में चीख उठे कि हम सबने धर्म को छोड़ दिया है। किन्तु वाह रे अरणक! वे तो अपने धर्म पर दृढ़ ही रहे।

निराश होकर देव को अपने असली रूप में आना पड़ा और उस रूप में आकर उसने अरणक से क्षमा मांगी और उपहार के रूप में कुण्डल-युगल देकर अपने स्थान को रवाना हुआ।

कितना जबर्दस्त मनोबल उनमें था। ऐसे ही मनोबल के अधिकारी हरिकेशी मुनि भी थे। एक तो वे कुरूप थे, दूसरे घोर तपश्चर्या के कारण उनका शरीर और भी सूख गया था। किन्तु तपश्चर्या के महान प्रभाव के कारण एक यक्ष उनका दास बन गया था।

एक बार वे किसी यज्ञशाला की ओर भिक्षार्थ जा रहे थे। किन्तु उनके तप से शुष्क हुए शरीर को तथा जीर्ण उपकरणों को देखकर यज्ञ के कर्त्ता ब्राह्मणों ने उनका उपहास करना आरम्भ कर दिया। और तिरस्कारपूर्वक कहा—

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे,
काए व आसा इहमागओ सि।
ओमचेलया पंसुपिसायभूया,
गच्छक्खलाहि किमिहं ठिओ सि॥

—उत्तराध्ययन १२-७

अर्थात् अरे ! जीर्ण वस्त्रवाले पिशाच सदृश अदर्शनीय ! तू कौन है ? क्यों आया है ? क्यों खड़ा है, यहाँ से निकल जा।

इस तिरस्कार से भी मुनि के हृदय में तनिक भी दुर्भावना नहीं उत्पन्न हुई किन्तु उनके भक्त यक्ष से रहा नहीं गया और जब उसने देखा कि कुछ ब्राह्मण कुमार मुनि हरिकेशी पर वेंतों तथा चाबुकों से प्रहार कर रहे हैं तो उसकी सहनशक्ति सीमा पार कर गई। यक्ष ने मुनि हरिकेशी के शरीर में प्रवेश कर ब्राह्मण-कुमारों को मारना शुरू किया। अनेकों के मुख से रक्त-वमन होने लगा और उनकी हालत अति भयानक हो गई।

यह देखकर यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण-देवता ने मुनि से क्षमा-याचना की और आहार ग्रहण करने की प्रार्थना भी की। उसी समय मुनि हरिकेशी ने अपने मास-खमण के पारणा के लिये आहार-पानी ग्रहण किया और उन्हें कहा—मेरे मन में न तो पहले द्वेष था और न अब है, न ही आगे कभी होगा। किन्तु तिंदुक वृक्ष पर रहनेवाला यक्ष मेरी सेवा करता है और उसने ही इन कुमारों को मारा है।

मुनि के, ठीक भिक्षा ग्रहण करते समय देवों ने वहाँ सुगंधित जल तथा पुष्पों की वर्षा की और दुंदुभियाँ बजाईं।

सज्जनो ! अगर हरिकेशी मुनि अपने शरीर की तरह ही अपनी साधना तथा तप में भी कृश होते तो क्या वे देवताओं द्वारा पूजनीय बन सकते थे ? कभी नहीं। ऐसे उदाहरणों से साबित हो जाता है कि शरीर की कृशता होने पर भी अगर आत्मिक शक्ति मनुष्य की दृढ़ होती है तो वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

शारीरिक साधना से मानसिक साधना अनेक गुनी महत्त्वपूर्ण होती है। क्योंकि शरीर के व्यापार के बिना ही केवल मन की प्रवृत्ति से ही जीव आधे क्षण में ही मोक्ष पहुँच सकता है। कहा भी है—

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च॥

वीतराग के मत में मनोयोग इतना बलशाली बताया गया है कि वह आधे क्षण में सातवें नरक में, तथा आधे क्षण में ही मोक्ष में पहुँचा देता है।

(३) तीसरा भंग है—दढे नामेगे किसे।

अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो कि शरीर से तो दृढ़ होता है किन्तु आत्मिक शक्ति से हीन होता है। भावना से वह अत्यन्त ही दुर्बल होता है। ऐसे व्यक्तियों की श्रेणी में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है। ब्रह्मदत्त अतुल रूप तथा समृद्धि के अधिकारी थे किन्तु उनकी आत्मिक शक्ति साधनापथ पर कदम रखने में अशक्त थी। आत्मिक शक्ति से वे हीन थे। पिछले पाँच भावों में रहे हुए ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के भाई चित्तमुनि ने ब्रह्मदत्त को समझाने के अनेक प्रयत्न किये। उन्हें भोगों से विरत करने के लिये नाना प्रकार के तर्क दिये। किन्तु चक्रवर्ती की कमजोर आत्मा दृढ़ नहीं बन सकी। उन्होंने चित्तमुनि के समस्त प्रयत्नों को निष्फल करते हुए उत्तर दिया —

> अहं वि जाणामि जहेह साहू,
> जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
> भोगा इमे संगकरा हवंति,
> जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं॥
>
> —उत्तराध्ययन, १३-२७

अर्थात् महाराज! आप जो कहते हैं वह मैं समझता हूँ किन्तु ये भोग बन्धनकर्ता हो रहे हैं जो हमारे जैसों के लिये दुर्जय हैं।

इतने पर भी चित्तमुनि ने अपना अंतिम प्रयास और किया तथा राजा से कहा—"राजन्! यदि तुम भोगों का त्याग करने में अशक्त हो तो कम-से-कम धर्म में स्थिर होकर, प्राणियों पर अनुकम्पा रखो और आर्य कर्म करो।" पर इसका भी परिणाम कुछ नहीं निकला। राजा ब्रह्मदत्त काम-भोगों में आसक्त रहा और सातवें नरक में उत्पन्न हुआ।

बंधुओ! संसार में प्रलोभन की वस्तुएँ चारों ओर बिखरी हुई हैं। और उनके लिये मनुष्य नाना प्रकार की विडम्बनाएं भोगते हुए देखे जाते हैं। कुछ व्यक्ति धन के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, कुछ स्वजन-ममता के वशीभूत होकर परिवार में आसक्त रहते हैं और कुछ यशकीर्ति के लिये आकाश-पाताल एक कर डालते हैं। विषय-भोगों के प्रलोभन ने समस्त संसार के प्राणियों को अपने चंगुल में फँसा रखा है और यह प्रलोभन इतना प्रबल है कि अज्ञानियों और मूर्खों की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े विद्वान् भी इससे बच नहीं सके हैं।

तात्पर्य यही कि कुछ विरले व्यक्तियों को छोड़कर संसार के समस्त

प्राणी विषय-विकारों का शिकार बने रहते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—

> निक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं,
> शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
> वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था,
> हा हा ! तथापि विषयान्न परित्यजंति ।।

अर्थात् जो भिक्षा माँगकर सिर्फ रूखा-सूखा, दिन भर में एक बार खाते हैं, पृथ्वी ही जिनकी शैय्या है, परिवार के नाम पर सिर्फ अकेली उनकी देह होती है, फटे-पुराने सैकड़ों चिथड़ों को जोड़ २ कर बनाई गई गुदड़ी ही जिनका वस्त्र है, महाखेद है कि ऐसे पुरुष भी विषय-भोगों का त्याग नहीं कर पाते।

यह सब क्यों? इसलिये कि उनकी आत्मिक शक्ति मंद होती है। शरीर हृष्टपुष्ट होने पर भी मन अत्यंत निर्बल होता है। ऐसे व्यक्ति मन के दास बने रहते हैं। आध्यात्मिक साधना करने वालों को तो सतत अभ्यास के द्वारा मन पर विजय प्राप्त करते हुए मन की शक्ति को दृढ़ बनाना चाहिये।

मुस्लिम समाज में यद्यपि हज अर्थात् मक्का, मदीने की यात्रा को बड़ा ही महत्त्व दिया गया है किन्तु 'शेखसादी' ने कहा है :—

> दिल बदस्त आवर कि हज्जे अकबर अस्त।
> अज़ हजार काबा यक दिल बेहतर अस्त ।।

अर्थात्—प्राणी ! तू अपने चित्त को वश में कर। क्योंकि यही एक महान् हज है। अपने चित्त को वश में करना तो हजार हजों से भी बेहतर है।

आप समझ गए होंगे कि जो मनुष्य शरीर से बलशाली होते हुए भी भावना से हीन होता है, इन्द्रियों का दास बन जाता है वह तीसरे भंग के उदाहरण में आता है।

(४) चौथा व अन्तिम भंग है—दढे नामेगे दढे। इसका तात्पर्य है—जो व्यक्ति शरीर से भी दृढ़ हो तथा भावना से भी दृढ़ हो। इसके अकाट्य प्रमाण हैं तीर्थंकर। तीर्थंकरों में शारीरिक बल अतुल होता है और उनका आत्मिक बल तो असाधारण होता ही है। राग, द्वेष, विषय-विकार तथा संसार के समस्त भोगों से जो अपने मन को विरत कर लेता है, उसके आत्मिक बल की तुलना कैसे की जा सकती है?

शारीरिक बल कितना भी क्यों न हो, पर उसके साथ मनोबल अत्यन्त उच्च होना चाहिये। मनुष्य को संसार-भ्रमण से विमुक्ति दिलाने वाला मनोबल ही होता है। मन की न्यूनतम दुर्बलता भी सहस्रशः अशुभ फलों को उत्पन्न कर देती है। अशुभ भावना से अनन्तानन्त अशुभ कर्म-परमाणुओं का तथा शुभ भावना से शुभ परमाणुओं का बंध होता है और इन भावनाओं की उत्पत्ति का मुख्य कारण हमारा मन ही है।

मन की अशुभ भावनाओं को शुभ रूप में परिणत करने के लिये मन को साधने का प्रयत्न करना अनिवार्य है। साधना के जो भी अंग हैं व्रत, उपवास, तपश्चर्या, यम, नियम आदि, उन सबका उद्देश्य मन का निग्रह करके शक्तिशाली बनाना ही है। इसीलिये भगवद्‌गीता में कहा गया है :—

> **चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम् ।**
> **तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥**

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं—यह मन तो बड़ा ही चंचल, बलवान् एवं दृढ़ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसको वश में करना वायु को वश में करने के समान बहुत दुष्कर है।

इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं—हे महाबाहो ! निस्संदेह मन चंचल है और बड़ी कठिनता से वश में आने वाला है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो जाता है।

जैनदर्शन में भी मनोनिग्रह के बड़े सुन्दर उपाय बताए गए हैं :—

> **स्वाध्याययोगैश्चरण-क्रियासु—**
> **व्यापारणैर्द्वादश -भावनाभिः ।**
> **सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति—**
> **फलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात् ॥**

अर्थात् मन को स्वाध्याय योग में लगाकर, शुभ क्रियाओं में संलग्न करके, अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओं में रमाकर और शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल के चिंतन में लगाकर बुद्धिमान् मन का निरोध करने का यत्न करे।

यह सही है कि मन पर नियंत्रण एकदम नहीं हो सकता। समय-समय पर यह विचलित होता रहता है। किन्तु जब यह आत्मा से बाहर विषय-

भोगों की ओर उन्मुख हो जाए उसे अविलम्ब लौटा लेने का प्रयत्न करना चाहिये। जैसा कि कहा है—

> मन मनसा को मारकर, घट ही मांहि फेर।
> जब ही चाले पीठ दे, आंकस दे दे फेर।।

मनुष्य को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि मन चाहे कितना भी धृष्ट व उद्दण्ड क्यों न हो, वह आत्मा का स्वामी नहीं है, आत्मा ही उसका स्वामी है। और आत्मप्रदत्त शक्ति को पाकर ही वह बलवान् बना है। तो आत्मा उस मन को अपने अधीन भी कर सकता है। इसको समझते हुए जो व्यक्ति साधना करेगा वह निश्चय ही मोक्ष का भागी हो सकेगा। यह सही है 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः'।

बंधुओ ! आज की इस चौभंगी का सार आपने ग्रहण कर लिया होगा। संक्षेप में इसका आशय यही है कि यह सर्वोत्तम होगा अगर मनुष्य को मानसिक शक्ति के साथ-साथ शारीरिक शक्ति भी प्रचुरता पूर्वक प्राप्त हो। शारीरिक बल का महत्त्व भी कम नहीं है, यह भी साधना में बड़ा सहायक साबित होता है। किसी दार्शनिक ने तो यहाँ तक कहा है—

"Strength is life and weakness is death."
शक्ति ही जीवन है और निर्बलता मृत्यु।

मेरी दृष्टि से भी शारीरिक दृढ़ता मनोबल को बढ़ाती है। मनोबल अगर सुवर्ण है तो शारीरिक बल उसमें सुगंध। इन दोनों का स्वामी संसार में क्या नहीं कर सकता ? शारीरिक दृढ़ता मनुष्य के ऐहिक जीवन को निर्भय बनाती है और मानसिक दृढ़ता पारलौकिक जीवन के प्रति निर्भय। आवश्यकता यही है कि मनुष्य दृढ़ता के साथ-ही-साथ निर्भयतापूर्वक अपनी आध्यात्मिक साधना पर बढ़ता जाए। विघ्न-बाधाओं से भयभीत हो जाना मनुष्य के पतन का चिह्न है। कहा भी है—"Fear is the root of sin." भय पापों का मूल है।

साधक अपने मानव-जीवन को तभी सार्थक बना सकता है जबकि उसकी दृढ़ता फौलाद की तरह मजबूत हो। दूसरे, शारीरिक दृढ़ता तो जैसा कि मैंने पूर्व में कहा है, बहुत कुछ प्रकृति-प्रदत्त होती हैं किन्तु आत्मिक शक्ति को दृढ़ बनाना मनुष्य की अपनी इच्छा-शक्ति पर ही निर्भर होता है। यह शक्ति बाहर से प्राप्त नहीं की जाती किन्तु मनुष्य की अपनी आत्मा ही इसका

निर्माण करती है। यहाँ अगर मानव हिम्मत हार जाए तो संसार की कोई भी शक्ति उसे ऊंचा नहीं उठा सकती और उसकी अक्षय सुख की कामना जन्म-जन्मान्तरों के चक्कर में पड़कर विलीन हो जाती है।

इस बहुमूल्य मानवजीवन को प्राप्त करके भी अगर आत्मकल्याण की साधना न की जाए तो यही समझना चाहिये कि जिन पुण्य-कर्मो से यह मानवशरीर प्राप्त हुआ वह पूंजी तो निरर्थक हो ही गई और इसके साथ ही विषय-भोगों को भोगकर जो कर्म-बंधन किये उनसे आगे के लिये और अधिक ऋणी हो गया।

इसलिये मनुष्य को निरंतर आत्मबल बढ़ाना चाहिये। इसके बढ़ने से इन्द्रियों की प्रबलता घटती है और विषयासक्ति हटती है। तभी आत्मा का उत्थान हो सकता है।

हमारी आत्मा अनन्त ज्योति का पुंज है तथा अनन्त शक्ति का सागर। फिर भी उस शक्ति की पहचान न होने के कारण, जन्म-जन्मान्तरों के बाद भी वह निस्तेज ही दृष्टिगत होता है। आत्मा का शुद्ध स्वभाव, उसकी उज्ज्वलता, कषायों की कालिमा से आछिन्न रहती है। परिणामस्वरूप आत्मा में दुर्बलता तथा निष्क्रियता आ जाती है तथा जन्म-मरण बढ़ते जाते हैं।

अगर दृढ़तापूर्वक सही मार्ग का अवलोकन कर उसपर चलने का प्रयत्न किया जाए, सम्यग्ज्ञान तथा दर्शनपूर्वक क्रियाएँ की जाएँ तो आत्मा निश्चय ही अपने मूलरूप में आ सकती है और वह विकास करते-करते जब अन्तिम सीमा पर आ जाती है तब परमात्मा बन जाती है। ज्यों-ज्यों कर्म रूप उपाधि हलकी होती जाती है त्यों-त्यों आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख की ओर बढ़ती चली जाती है। यही आत्मा का परमात्मदशा प्राप्त करना है। भगवान् महावीर ने भी कहा है—

जह रागेण कडाणं,
कम्माणं पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा,
सिद्धा सिद्धालयमुवेन्ति —औपपातिक सूत्र

अर्थात् यह संसारी जीव राग-द्वेष रूप विकारों के कारण उपार्जित कर्मो का दुष्फल भोगता है और जब समस्त कर्मो का क्षय कर डालता है तो सिद्ध होकर सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करता है।

वास्तव में संसार के विषय-भोग अग्नि के समान होते हैं। जब तक यह विषयाग्नि अन्तःकरण में धधकती रहती है, प्राणी को शांति नहीं मिल सकती। यह सर्वथा अशांत तथा व्याकुल रहता है। और यही व्याकुलता महान् कर्मबन्ध का कारण बनती है। उन कर्मों के कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। ईसाइयों के धर्मग्रंथ इंजील में बड़े सुन्दर ढंग से इसी बात को समझाया गया है :—

"Can a man take fire in his bosom and his cloths not be burned ? Can one go upon hot coals and his feet not be burnt ?"

अर्थात् क्या यह संभव है कि कोई मनुष्य अपने वक्षस्थल पर अग्नि धधका ले और उसके वस्त्र जलने से बच जाएँ ? और यह भी संभव है कि मनुष्य धधकते अंगारों पर चले और उसके पैर जलें नहीं ?

वास्तव में ही विषय-भोगों की तृष्णा प्रज्वलित वह्नि के समान है और जब तक यह शांत नहीं की जाएगी आत्मा शांति नहीं पा सकेगी। और इसे शांत करने की क्षमता अगर किसी में है तो वह अपनी ही आत्मा की दृढ़ता में। आत्मा की दुर्बलता, इस कषायाग्नि के लिये घृत के समान है और दृढ़ता शीतल जल के समान। संक्षेप में यही दृढ़ता की महिमा तथा सच्चा परिचय है।

इस चौभंगी के स्वरूप को समझकर आप अपनी आत्मा को, एवं अपने मन को सबल और दृढ़ बनाने का उपक्रम करें और आज से ही इस प्रयास की नींव रक्खें।

[८]

ज्ञान-प्राप्ति के साधन

सज्जनो !

इस अद्भुत सृष्टि में ज्ञान के समान पावन, बहुमूल्य तथा इच्छित फल की प्राप्ति करानेवाली अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। ज्ञान की महिमा अनिर्वचनीय है। उसका पूरी तरह वर्णन कर सकना असम्भव है।

ज्ञान के द्वारा ही लौकिक तथा लोकोत्तर सभी प्रकार की निधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ज्ञान के द्वारा ही जीव को कर्तव्य तथा अकर्तव्य की पहचान होती है। ज्ञान के द्वारा ही अविवेक का नाश होता है और निर्मल चारित्र का पालन हो सकता है। ज्ञान के अभाव में घोर तपस्या और कठिन से कठिन काय-क्लेश भी सम्यक् चारित्र नहीं कहला सकते। और वे नाना प्रकार के कायक्लेश भी मुक्ति के कारण न बनकर संसार बढ़ने के साधन बन जाते हैं। कहा भी गया है—

> अज्ञानी क्षपयेत् कर्म, यज्जन्मशत-कोटिभिः।
> तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहन्त्यन्तमुहूर्तके ॥

अर्थात्-अज्ञानी मनुष्य जिन कर्मों को नाना प्रकार के कष्ट सहन करके तथा शत-शत वर्षों तक तपश्चर्या करके भी कोटि-कोटि जन्मों में खपा पाता है, ज्ञानी पुरुष उन्हीं कर्मों को तीन गुप्तियों से युक्त होकर अर्थात् मन, वचन तथा काय के व्यापारों का निरोध करके अन्तर्मुहूर्त में ही खपा डालता है।

संसार में दो प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं—ज्ञानी तथा अज्ञानी। ज्ञानी वे हैं जिनकी दृष्टि, रुचि एवं प्रतीति समीचीन है, जो विचार तथा विवेक से सम्पन्न होते हैं तथा अपने कल्याण का पथ खोजकर उसपर चलने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत अज्ञानी वे होते हैं, जिन्हें आत्मा-अनात्मा में अन्तर नहीं जान पड़ता। पुण्य तथा पाप के फलों पर जो विश्वास नहीं करते। तथा अपनी आत्मा का भी शरीर के साथ ही नष्ट होना मानते हैं।

अध्यात्मशास्त्र में ज्ञानी और अज्ञानी का निर्धारण पाण्डित्य अथवा अपाण्डित्य के आधार पर नहीं किया गया है। भले ही कोई व्यक्ति महा-विद्वान् हो, अनेक भाषाओं में पारंगत हो, विविध शास्त्रों का जानकार हो, मोटी-मोटी पुस्तकें भी कण्ठस्थ कर ली हों और प्रवचन अथवा तर्क करने में कुशल हो, फिर भी अगर उसे आत्मा की शाश्वत शक्ति पर विश्वास न हो, तत्त्वों पर श्रद्धा न हो और उसके हृदय में विवेक न हो तो वह ज्ञानी नहीं है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति विद्वान् न होने पर भी विवेकवान् है, वीतराग की वाणी पर जिसे श्रद्धा है वह ज्ञानी मनुष्यों की श्रेणी में माना जाएगा।

ज्ञानी पुरुष अपने मन को तथा अपनी इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रखते हैं। अपने मन, वचन तथा काय के अनिष्ट व्यापारों को रोककर अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाते हैं। वे अपने सत्संकल्प तथा अपने लक्ष्य से कदापि विचलित नहीं होते। किसी भी प्रकार का उपसर्ग और परीषह क्यों न आए, वे अपने विचारों का तथा पथ का परित्याग नहीं करते। उनका सम्यग्ज्ञान ही उनके उत्थान का कारण बनता है। इसी कारण संसार के सभी शास्त्र ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

संसारसागरं घोरं, तर्त्तुमिच्छति यो नरः।
ज्ञान-नावं समासाद्य, पारं याति सुखेन सः॥

अर्थात् सुखपूर्वक मोक्ष प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग ज्ञान ही है। जो भी मनुष्य इस घोर संसार-सागर को पार करना चाहते हैं उन्हें ज्ञान-रूपी नौका का सहारा लेना चाहिये।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति जब हो जाती है तो आत्मा में स्वयं ही विवेक का प्रादुर्भाव होता है और वह विषय-भोगों से विरक्त हो जाता है। यह हो सकता है कि जीव विषयभोगों का सर्वथा त्याग न कर सके, फिर भी वह उन्हें भोगता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। उसका अन्तःकरण अनासक्त रहता है। वह संसार को कारागार समझता है और उसमें रहते हुए भी उस शुभ दिन की प्रतीक्षा में रहता है जब कि उसकी अवधि पूरी हो। संसार के भोग-विलास उसे रुचिकर नहीं होते फिर भी वह यह समझता है कि जब तक कर्मों की स्थिति बनी हुई है, उसे विवशतापूर्वक इसमें रहना पड़ेगा।

ज्ञानी और अज्ञानी की बाह्य चेष्टाएं एक सी दिखाई देती हैं, दोनों ही भोगों को भोगते हुए जान पड़ते हैं किन्तु उनमें अन्तर यही होता है कि

ज्ञानी उन्हें अनासक्त भाव से और अज्ञानी अत्यन्त आसक्त भाव से भोगते हैं। समस्त जीवन इस प्रकार व्यतीत करने के पश्चात् जब अन्तकाल आता है तब भी दोनों में महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

विवेकहीन अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु की घड़ी आने पर अत्यन्त दुखी होता है और सोचता है—मेरे प्रियजन मुझसे बिछुड़ रहे हैं। अत्यन्त कठिनाइयों से उपार्जन की हुई मेरी सम्पत्ति यहीं रह जाएगी। हाय ! मेरी अनेक अभिलाषाएँ अपूर्ण रह गईं। अब आगे न जाने क्या होगा ?

इस प्रकार दुख, शोक, विकलता तथा पश्चात्ताप के कारण अज्ञानी का मरण होता है और ऐसे मरण के कारण उसके जन्म-मरण और अधिक बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष मृत्यु को नैसर्गिक तथा साधारण क्रिया ही मानते हैं। और अपनी मृत्यु को शुभ तथा स्वयं को बंधनमुक्त होना मानते हैं। वे यह सोचते हैं।

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥

अर्थात् हे आत्मा ! तू तो ज्ञान रूपी दिव्य शरीर का स्वामी है। फिर तुझे इस सहस्रों कीटाणुओं से भरे हुए, जर्जरित देह रूपी पिंजरे के नष्ट होने पर क्यों शोक करना चाहिये ? इस ज्ञान रूपी शरीर का तो सैकड़ों मृत्युएं भी कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं।

इस प्रकार ज्ञानी तथा अज्ञानी के जीवन और मृत्यु में महान् अन्तर होता है। इसलिये प्रत्येक प्राणी को चाहे वह श्रावक हो या श्राविका, साधु हो या साध्वी, ज्ञान प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध होना चाहिये। जैनधर्म में गृहस्थों के लिये विधान है कि वे पूर्ण रूप से नहीं कर सकने पर भी यथाशक्ति अधिक-से-अधिक त्याग करें तथा समय-समय पर संतों की जैसी वृत्ति का पालन करें। किन्तु साधु को तो संयम तथा सदाचार की जागती प्रतिमा बनना चाहिये। संत तो मानव-जीवन के परम पवित्र तथा उच्चतम उद्देश्य के लिये सतत प्रयत्न करने वाला साधक होता है। उसका जीवन तप और त्याग की उज्ज्वलता से परिपूर्ण होता है। उसे एक-एक कदम बड़ी सावधानी से सोच-विचारकर रखना होता है। प्रत्येक साधु को सांसारिक भोग-विलासों के त्याग के साथ ही आन्तरिक दुर्गुणों का भी परित्याग करना होता है। एक फ़ारसी कवि ने कहा है—

जाहिर अज़ आमाले नेको पाक कुन।
बातन अज़ हक्कुल यकी बेबाक कुन॥

अर्थात् प्राणी ! तू अपने बाह्य स्वरूप को शुभ कर्मो द्वारा पवित्र कर और आन्तरिक भावों का दृढ़ श्रद्धा से उत्थान कर।

मुनि वृत्ति बड़ी दुष्कर होती है किन्तु जो उसका पालन करते हैं वे ही मुक्ति के माधुर्य को पा सकते हैं। मुनि की प्रत्येक क्रिया सम्यग् ज्ञानमय होनी चाहिये।

ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षयोपशम होना आवश्यक है। वह क्षयोपशम दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम तो जिन कारणों से ज्ञानावरण का बंध होता है उनसे दूर रहा जाय। दूसरे जिन बाह्य कारणों से ज्ञान प्राप्ति में बाधा पड़ती है उन्हें अमल में न लाया जाए। ज्ञानप्राप्ति के कारणों के विषय में स्थानांग सूत्र में सरलतापूर्वक समझाया गया है। सूत्र इस प्रकार है—

'चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पजिउकामे समुप्पज्जेज्जा, तंजहा—(१) इत्थिकहं भत्ताकहं देसकहं रायकहं नो कहेत्ता भवति (२) विवेगेण विउस्सग्गेणं सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवति (३) पुव्वरत्तावरत्ताकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरतिता भवति (४) फासुस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स सम्मं गवेसिया भवति; इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव समुपज्जेज्जा।'

यहाँ सूत्रकार ने ज्ञान-प्राप्ति के चार साधन बतलाए हैं, जिनकी विद्यमानता में सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन चार कारणों से अतिशय-ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

(१) जो साधु संयम अंगीकार करने के पश्चात् अपना समय चिन्तन, मनन, ध्यान तथा स्वाध्याय आदि में व्यतीत करता है। और कभी भी प्रमाद के वशीभूत होकर स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा तथा राजकथा नहीं करता उसे ही अतिशय ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। विकथाएं आत्मा को उसकी स्वभाव-स्थिति से विपरीत विभाव-स्थिति में ले जाती हैं। उनसे आत्मा की निर्मलता विलीन होकर मलिनता आ जाती है।

वचनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में हमारे धर्म-शास्त्रों में तथा इतर धर्मग्रन्थों में भी अनेक बातें बताई गई हैं।

उन सबमें मुख्य बात यही है कि मनुष्य जब भी बोले, अत्यन्त विचारपूर्वक तथा आत्मा में विकृति न आवे ऐसी भाषा बोले। विकथाएँ करने की अपेक्षा तो अधिक-से-अधिक मौन रखना उत्तम है। कहा भी है—

'Speach is gold but silence is golden.'

यानी बोलना सुवर्ण है किन्तु मौन उसकी अपेक्षा भी बहुमूल्य आभूषण है।

वाणी एक दर्पण है जिसमें मनुष्य के अन्तस्थल की परछाई दिखाई देती है। इस दर्पण में मनुष्य का अन्तरंग दृष्टिगोचर हो जाता है, क्योंकि मनुष्य का आचार-विचार जैसा होगा वैसा ही उसका उच्चारण भी होगा। अन्तर की भावनाएँ ही शब्द का रूप ग्रहण करके मुख के द्वारा बाहर आती हैं। हिन्दी के एक कवि ने कहा भी है—

बोलत ही पहचानिये, साह चोर को घाट।
अन्तर की करनी सबै, निकसै मुंह की बाट।।

विकथाओं में सर्वप्रथम स्त्रीकथा का उल्लेख है। साधु पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन सिद्धगति प्राप्त करने का सर्वोत्तम मार्ग तथा जन्म-मरण का निरोध करने वाला है। किन्तु इसका पालन तभी हो सकता है जबकि काम-विकार संबंधी पठन-पाठन तथा संभाषण आदि सभी से बचा जाय। संक्षेप में शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक किसी भी क्रिया के द्वारा ब्रह्मचर्य का भंग न हो। इसका भंग होने पर सभी व्रतों का नाश हो जाता है। स्त्रीकथा करने वाला विषय-विकार से ग्रस्त होकर अहर्निश संताप तथा आकुलता का अनुभव करता है। दिवस में की गई कथा का संस्कार स्वप्न में भी पीछा नहीं छोड़ता।

इसी प्रकार स्त्रीकथा की तरह बाकी तीन विकथाओं का भी निर्ग्रन्थ को पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिये। हर समय खान-पान की वस्तुओं के विषय में वार्तालाप करने से या कि देश अथवा राज्य के पचड़ों में पड़ने एवं तत्सबंधी वाद-विवाद करते रहने से भी अमूल्य समय नष्ट होता है और साधु को अतिशय ज्ञान की प्राप्ति के लिये समय ही नहीं मिल पाता।

(२) ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा साधन है विवेक तथा व्युत्सर्ग। इनमें वृद्धि करना ज्ञान-वृद्धि करना है। जो साधक विवेकपूर्वक चिन्तन करता है

सांसारिक भोग, विषय तथा कषयादि के दुष्परिणाम को समझकर उनसे विरत रहने का प्रयत्न करता है वह निश्चय ही अतिशय ज्ञान का धारी बन सकता है। भावनाओं में विवेक जागृत हो और साधक को उसकी पहचान हो जाए इतना ही काफी नहीं है। उस विवेक को साधु अपनी प्रत्येक क्रिया करते समय अमल में लाए। पल भर भी उसे विस्मरण न करे और अन्त:करण में रमा ले तब विवेक ज्ञान का लाभ हो सकता है और वह ज्ञानप्राप्ति में सहायक बनता है। महान् दार्शनिक शेक्सपियर ने कहा है :—

Let your own discretion be your tutor; suit the action to the word, the word to the action.

अर्थात् अपने विवेक को अपना शिक्षक बनाओ। शब्दों का कर्म से और कर्म का शब्दों से मेल कराओ।

विवेकी पुरुष कीचड़ में पड़े हुए रत्न को भी खोज निकालते है, जिस प्रकार हंस दूध पी लेता है और उसमे मिले हुए पानी को छोड़ देता है।

विवेकशील जन-क्षणिक भौतिक, वस्तुओं के हानि-लाभ से शोक अथवा आनन्द का अनुभव नही करते। विवेक ही बुद्धि को पूर्णता की ओर ले जाता है और जीवन के सभी कर्त्तव्यों में पथ-प्रदर्शक होता है। विवेकहीन व्यक्ति कभी भी उन्नति के शिखर पर नही पहुँच सकता। उसकी दुर्गति निश्चय ही होती है। विवेक के द्वारा ही क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि विकारों को दूर किया जा सकता है।

विवेक की तनिक-सी कमी के कारण ही बाहुबली के हृदय मे अहकार बना रहा। उस अहंकार के कारण वे अपने लघु-भ्राताओं को सयम मे बड़ा होने पर भी वदन नहीं कर सके। परिणामस्वरूप एक वर्ष घोर तपस्या करने पर भी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नही हुई। किन्तु जब उनकी बहनें, साध्वी ब्राह्मी तथा सुन्दरी ने जाकर उन्हें कहा —

वीरा ! म्हारा गज थकी ऊतरो,
गज चढ्याँ केवल न होसी रे।

यह सुनते ही उनके हृदय में विवेक की बिजली चमक उठी और पलक मारते ही उनके हृदय ने समझ लिया कि कौनसा वह गज है जिसपर मैं बैठा हुआ हूँ। उसी समय उनका अहंकार रूपी हाथी लुप्त हो गया और उन्होंने

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में जाकर अपने भाइयों को भी पूर्ण श्रद्धा से वंदन करने का निश्चय कर लिया। इस निश्चय के साथ ही उन्होंने ज्योंही कदम उठाया कि तत्काल उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

तो कितना महान् तथा तात्कालिक प्रभाव विवेक का हुआ ? इसके विना बाहुबली की संयम-साधना तथा घोर तपस्या भी फलवती नहीं हुई। इसीलिये तो कहा है—

समझा समझा एक है, अन-समझा सब एक।
समझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक ॥

भावार्थ यही है कि कोई कितना भी ज्ञान प्राप्त करके समझदारी का दावा करे, विवेक के अभाव में उसकी गणना नासमझों में ही की जाएगी। समझदार सिर्फ वही कहलायेगा जिसके हृदय में विवेक की जागृति होगी।

ज्ञान के साथ अगर विवेक नहीं है तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं कहला सकता। इसीलिये विवेक को अतिशय ज्ञान की प्राप्ति का अनिवार्य साधन माना है।

इसके बाद आता है 'व्युत्सर्ग' अर्थात् त्याग। मनुष्य आसक्ति तथा ममत्व के कारण संसार के पदार्थों को अपना समझ लेता है। उनपर से ममत्व हटा लेना ही त्याग है।

सांसारिक संबंधों के कारण पिता, पुत्र, पत्नी, परिवार तथा संबंधियों को आत्मीय मानना तथा उन्हें अपना समझना मूढ़ता है। मूढ़ व्यक्ति ही धन, संपत्ति, मकान, जमीन और अन्य वस्तुओं को अपनी मानता है तथा उनके प्राप्त होने पर हर्षित और उनके घटने पर आकुल-व्याकुल होता है। ऐसी अशांति के कारण वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता।

विवेकवान् व्यक्ति तो अपने शरीर को भी अपना नहीं मानता और समय आने पर उसका त्याग भी सहर्ष कर देता है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक पदार्थों को तो स्वप्न में भी अपना नहीं मानता और उनपर से समस्त मोह-ममता हटा लेता है। वास्तव में ही भोग बंधन का कारण है तथा विरक्ति मुक्ति का।

भोग तथा आसक्ति से मन कभी भी संतुष्ट नहीं हो सकता। इच्छाएँ बढ़ती ही जाती हैं, उनका कभी अंत नहीं होता। कहा भी है :—

कसिणं पि जो इमं लोगं,
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से न संतस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ उत्तराध्ययन ८-१६

अर्थात् धन, धान्य, सोना, चांदी आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व यदि एक मनुष्य को प्रदान कर दिया जाय तब भी वह संतुष्ट नहीं होगा ।

अगर मानव-जाति भगवान् महावीर के इस कथन को मानकर चलती तो आज मानव-मानव के बीच जो वैमनस्य, वर्गसंघर्ष, छीना-झपटी, स्पर्द्धा तथा कलह का प्रसार दिखाई देता है उसका कहीं चिह्न भी नहीं होता ।

आज संसार में सर्वत्र अशांति ही दृष्टिगोचर होती है । मनुष्य मनुष्य का सहायक तथा रक्षक होने के बजाय भक्षक बना हुआ है । एक मनुष्य दूसरे की वस्तु हड़पने की फिराक में है और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन करने की । एक ओर सहस्रों प्राणी भूख से बिलबिलाते हैं और दूसरी ओर धनाढ्य व्यापारी अन्न के कोठे भरने की कोशिश में रहते हैं । एक ओर नारियों को लज्जा बचाने के लिये चिथड़े भी मयस्सर नहीं होते जब कि दूसरी ओर पेटियों में वस्त्र अंटते नहीं ।

इस भयानक विषमता को दूर करने के लिये अनेक दल साम्यवाद का प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं । इस सबका कारण है व्युत्सर्ग का विरोधी तत्त्व ग्रहण और आसक्ति । अतः जब तक इसके कुप्रभाव को नहीं समझ लिया जाता है तब तक संसार में शांति का साम्राज्य नहीं हो सकता । आज मनुष्य की हवस इतनी बढ़ गई है कि जिसका ओर-छोर ही कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता । आज आपकी आवश्यकताओं को आपका यह विशाल भारत देश भी पूरी नहीं कर सकता । उन्हें पूरी करने के लिये विश्व के कोने-कोने से वस्तुएं मंगवानी पड़ती हैं । फिर भी क्या कहीं उनकी पूर्ति का, मनुष्य की तृप्ति का चिह्न दृष्टिगोचर होता है ? नहीं । एक जरूरत पूरी नहीं होती और उसके साथ दस नवीन जरूरतें समक्ष आ जाती हैं । कवि सुन्दरदासजी ने सत्य ही कहा है :—

जो दस बीस पचास भये,
शत होय हजारन लाख मंगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य,
पृथ्वीपति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल को राज्य करो,
तृष्णा अधिकी अति आग लगेगी।
सुन्दर एक संतोष बिना,
शठ ! तेरी तो भूख कभी न भगेगी।

इस प्रकार परिग्रह की तृष्णा की यह आग कभी शांत नहीं होती। भगवान् महावीर ने मनुष्यों की इस प्रवृत्ति को भली-भाँति समझ लिया था और परिग्रह के दुष्परिणामों की जाँच कर ली थी। इसीलिये उन्होंने विधान किया था कि जहाँ चार व्रत जीवन की सफलता के लिये आवश्यक हैं वहाँ परिग्रह का त्याग करना भी अनिवार्य है। पाँचों महाव्रत आत्मकल्याण के अभिलाषी साधक के लिये मुक्ति का सोपान हैं। आज तक जिन्होंने भी मुक्ति प्राप्त की उन्होंने संसार की समस्त वस्तुओं का त्याग करके ही की है, उनमें आसक्ति रखकर नहीं।

बन्धुओ ! आपने समझ लिया होगा कि प्रत्येक प्राणी के लिये और विशेषतः निर्ग्रन्थ के लिये तो व्युत्सर्ग अपनाना अनिवार्य है। त्याग संसार की महान् शक्तियों में से एक है। इस वृत्ति को धारण करने वाला साधक ही आत्म-कल्याण के पथपर बढ़ सकता है तथा अतिशय ज्ञान का अधिकारी बन सकता है।

(३) ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा साधन है धर्म-जागरण करना। शान्त वातावरण में, जिस समय सांसारिक कोलाहल मिट जाता है उस समय एकांत में साधक को धर्मजागरण करके ज्ञानवृद्धि करनी चाहिए। जैनशास्त्रों में रात्रि का समय धर्म-जागरण के लिये अत्यन्त अनुकूल बताया है। रात्रि के समय मस्तिष्क शान्त रह सकता है तथा विचारों की और आकुल व्याकुल भावों की धमाचौकड़ी कम हो जाती है। वही समय चिन्तन को बढ़ाने में उपयुक्त होता है।

मनुष्य की आत्मा में ज्ञान का अक्षय भंडार भरा है। आत्मा ज्ञानमय है, अनन्त एवं असीम चेतना का धनी है। उसे सिर्फ़ अभिव्यक्त करने की आवश्यकता होती है। गुरु तथा ग्रन्थ आदि उसको प्रकाश में लाने के निमित्त

मात्र ही हैं। ज्ञान का उपादान कारण तो निज आत्मा ही है। अगर वह शक्ति आत्मा में न होती तो लाख प्रयत्न करने पर भी उसमें ज्ञान का उदय तथा अभिवृद्धि नहीं होती। जिस प्रकार कि जड़ वस्तु में अनन्तकाल तक प्रयत्न करने पर भी ज्ञान का आविर्भाव नहीं हो सकता।

सामान्य गृहस्थ को भी धर्म-जागरण अवश्य करना चाहिये किन्तु उसे धनप्राप्ति तथा भोगोपभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के लिये इतना समय देना पड़ता है कि धर्म-जागरण करना उसके लिये कठिन होता है। संसारी जीवों को अर्थ-जागरण में इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि रात्रि में भी उनकी उधेड़बुन समाप्त नहीं हो पाती। फिर वे धर्म-जागरण कब करें? हाँ, जो गृहस्थ श्रावक शास्त्रानुसार अपनी जीविका चलता है अर्थात् अल्पारंभी एवं अल्प-परिग्रही होता है, वह अवश्य धर्म-जागरण के योग्य वातावरण पा सकता है।

किन्तु संयम ग्रहण करने के पश्चात् साधु को तो अपना अधिक से अधिक समय इसमें बिताना चाहिये अन्यथा उसे अतिशय ज्ञान की प्राप्ति होना असभव हो जाएगा। उसका संयम ग्रहण करना निरर्थक सिद्ध होगा।

जिन महात्माओं ने संयमी जीवन को ग्रहण करके उसके अलौकिक आनन्द का आस्वादन किया है उनके उद्गारों से पता चलता है कि उनका जीवन कितना निश्चिंत, निराकुल तथा मस्ती से भरा हुआ होता है। किसी महात्मा ने कहा है :—

> कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं, कन्था पुनस्तादृशी,
> निश्चिन्तं सुखसाध्यभैक्षमशनं शय्या श्मशाने वने।
> मित्रामित्रसमानता जिनपतेश्चिन्ताथ शून्यालये,
> स्वात्मानन्दमदप्रमोदमुदितो, योगी सुखं तिष्ठति॥

अर्थात् सैकड़ों जगह फटी तथा जर्जर लंगोटी और उसी के समान गुदड़ी ओढ़ने को है। अनायास भिक्षा से मिलने वाला भोजन और शय्या श्मशान हो या कि वन कहीं भी जमा लेते हैं। मित्र-शत्रु सब एक समान होते हैं। ऐसे योगी किसी भी सुनसान स्थान में बैठकर जिनेन्द्र का ध्यान करते रहते हैं। कभी-कभी अपनी आत्मा के आनन्द मे मगन होते हुए आत्मानन्द के अपूर्व रस का आस्वादन करते हैं और ज्ञानवृद्धि करने में रत रहते हैं।

ऐसा होता है संयमी पुरुषों का जीवन। उनके जीवन में आकुलता का

प्रवेश कहाँ से हो ? चिन्ता और परेशानियाँ उनके पास कैसे फटकें ? उनके जीवन में तो आनन्द और मस्ती का ही साम्राज्य बना रहता है।

ऐसे निराकुल साधक ही अतिशय ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं और ज्ञानावरणीय कर्म का समूल रूप से नाशकर सर्वज्ञता प्राप्त कर सकते हैं। आत्मा में ज्ञान रूपी सूर्य का प्रखर प्रकाश है किन्तु कर्म रूपी आवरण उसे आच्छादित किये रहते हैं पर जब धर्म-जागरणा रूपी तेज तूफान चलता है तो वे आवरण छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य को मेघ ढंक लेते हैं और उसकी उज्ज्वल किरणों को पृथ्वी पर नहीं गिरने देते, किन्तु जब आँधी चलती है तो मेघ बिखर जाते हैं तथा सूर्य की सुनहरी रश्मियाँ अपना आलोक बिखेरने लगती हैं।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह लिया अथवा दिया नहीं जाता। शिक्षक अथवा धर्मगुरु इसे सिर्फ जगाते हैं। यानी वह दिया-लिया नहीं, वरन् जगाया जाता है। अगर उसे जागृत न किया जाए तो वह आवृत, अनभि-व्यक्त या दबा पड़ा रहता है।

जिस प्रकार एक पाषाण में मूर्ति बनने की क्षमता होती है किन्तु अगर कुशल कलाकार उसे तराश कर गढ़े नहीं तो अनन्त काल तक वह पाषाण मूर्ति बनने की योग्यता रखता हुआ भी यों ही पड़ा रहता है। दियासलाई की एक सींक को लीजिये। उसमें जलने की योग्यता स्वयं होती है किन्तु बिना माचिस से रगड़े क्या वह जल सकती है ? नहीं। उसे जलाने का प्रयत्न करना ही पड़ता है।

बस इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान परिपूर्ण है पर उसकी वृद्धि के लिये धर्म-जागरण करना अनिवार्य है। भले ही साधक गुरुओं के अनेकानेक उपदेश सुन ले, अनेक धर्मग्रन्थों को रट ले किन्तु अपनी आत्मा की ज्ञान-निधि पर छाये हुए कर्मों के आवरणों को धर्मजागरण करके न हटाया तो वे प्रवचन तथा रटी हुई विद्या उसकी आत्मा तक नहीं पहुँच सकती और उनसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त प्राप्त किये हुए ज्ञान को विस्मरण न होने देने के लिये, उसमें गंभीरता और विशदता लाने के लिए सतत वृद्धि के लिये भी साधक को पर्याप्त समय धर्मजागरण में लगाना चाहिये। इसके लिये विद्वानों की तथा ज्ञानी पुरुषों की संगति यथाशक्य करना आवश्यक है। अभ्यास न

रहने से सीखा हुआ ज्ञान भी विस्मृत हो जाता है :—'अनभ्यासे विषं विद्या' अभ्यास के बिना विद्या विष रूप हो जाती है।

ज्ञान मानव की आत्मा को संस्कारों के द्वारा उन्नत बनाता है। अतः उसकी सार्थकता चारित्र निर्माण होने में है। कहा भी गया है—

'ज्ञानं वन्ध्यं क्रियां विना'

ज्ञान के अनुसार अगर चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान निष्फल है—उसी प्रकार जिस प्रकार औषधि का ज्ञान मात्र ही निरोगता के लिए निरर्थक है। सच्चा पंडित और ज्ञानी वही कहला सकता है जो कर्मशील हो। दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है—

'The great aim of education is not knowledge but action'

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ज्ञान नहीं, बल्कि चारित्र है।

कहने का सार यही है कि साधक को अतिशय ज्ञान की प्राप्ति के लिये शांत व एकान्त वातावरण में धर्म-जागरणा तो करनी ही चाहिये पर उसके साथ ही जागरण के द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञान को सत्संग तथा अभ्यास से उज्ज्वल बनाते हुए चारित्र में उतारना चाहिये। ये सभी बातें ज्ञानाभ्यास के विभिन्न अंग हैं।

(४) ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में चौथा साधन है शुद्ध तथा पवित्र आहार। कहा जाता है कि जैसा भोजन किया जाता है वैसी ही बुद्धि होती है है। शुद्ध भोजन बुद्धि को निर्मल बनाता है और निर्मल बुद्धि ज्ञान-प्राप्ति का कारण है। कहा भी है—

जैसा अन जल खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी वानी सोय॥

अगर मानव दिव्य ज्ञान की प्राप्ति का इच्छुक हो तो उसे दूषित आहार का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। दूषित आहार से बुद्धि भ्रष्ट होती है और ज्ञानप्राप्ति में बाधा पड़ती है। जैसा मिला वैसा ही भक्षण कर लेना बुद्धिनाश का आरम्भ करना है। जो साधक खान-पान की पवित्रता का ध्यान नहीं रखता उसे अतिशय ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शास्त्रों में मुनियों के आहार की शुद्धि का विस्तृत विवेचन दिया गया है। इसका कारण यह है कि आहार के साथ मनुष्य के आचार-विचारका बड़ा घनिष्ठ सबंध है। मुनि की संयम-साधना तभी निर्विघ्न चल सकती है जब कि उसका आहार संयम के अनुरूप हो।

आहार के विषय में जो व्यक्ति लोलुपता रखता है वह संयम का निर्वाह सम्यक् रूप से नहीं कर सकता। इसलिये साधु को आहार के विषय में अत्यन्त संयत रहना चाहिये, ऐसा शास्त्रों में निर्देश किया गया है।

साधु के लिये भिक्षा के बयालीस दोषों को टालने का उल्लेख है। उनमें से सोलह दोष स्वयं साधु के द्वारा, सोलह भिक्षा प्रदान करने वाले गृहस्थ के द्वारा तथा दस दोष दोनों के द्वारा लग सकते हैं। इस प्रकार ४२ दोषों का पूर्णरूप से ध्यान रखते हुए साधु को आहार की गवेषणा करनी चाहिये।

साधु हिंसा के पूर्ण त्यागी होते हैं। त्रस या स्थावर किसी भी प्राणी की हिंसा का उन्हें त्याग होता है। अतः साधु को सचित्त आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये। अगर ऐसा आहार ग्रहण कर लें तो वे दूषित आहार ग्रहण के दोषी बन जाते हैं।

साधु को सिर्फ इतना ही ध्यान रखना काफी नहीं है कि वह उचित आहार ग्रहण करता है। उसे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि भोजन गृहस्थ ने अपने उपयोग में लाने के लिये ही तैयार किया है और उसका कुछ भाग वह साधु को देना चाहता है। वही भाग साधु। मर्यादा के अनुकूल व ग्रहण करने योग्य होता है तथा शुद्ध आहार कहलाता है।

बंधुओ! साधु को शुद्ध आहार मिले, इसमें आप श्रावकों को भी पूर्ण ध्यान रखने की आवश्यकता है। यद्यपि गृहस्थ सम्पूर्ण रूप से हिंसा का त्याग नहीं कर सकता किन्तु उसे संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा करने का तथा बिना कारण स्थावर जीवों की हिंसा करने का त्याग तो अवश्यमेव करना चाहिये। मद्य, मांस तथा कंद-मूल का सेवन न करना श्रावक को उचित है।

ऐसे श्रावक ही साधु को निर्दोष आहार दे सकते हैं तथा स्वयं अपने को व साधु को भी दोषों का भागी होने से बचा सकते हैं। निर्दोष आहार भी साधु को अनासक्त भाव से ही ग्रहण करना चाहिये।

भोजन में आसक्ति का होना भी महान् दोषों का कारण है। आसक्ति पूर्वक चने खाना भी कर्मबंध का कारण होता है और आसक्तिरहित होकर मिष्टान्न खाना भी निर्जरा का कारण। निर्दोष आहार अनासक्त होकर करना ही अतिशय ज्ञान की प्राप्ति में सहायक बनता है।

सच्चा साधक अपने सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाता हुआ निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है। वह ज्ञानप्राप्ति के चारों साधनों का पूर्ण रूप से ध्यान रखता है तथा उसके बाधक कारणों से बचाव करता रहता है।

ज्ञानी पुरुष विषयों की ओर जाती हुई पाँचों इन्द्रियों को, पापोत्पादक विचारों को तथा भाषा सम्बन्धी समस्त दोषों को त्यागकर निरंतर ज्ञान-प्रवृत्ति, ज्ञान-प्राप्ति में संलग्न रहते है। क्योंकि :—

"ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत् ।"

— मनुस्मृति

ज्ञान की प्रेरणा से ही आत्मा विकास के मार्ग में गति करती है और उसी के परिणामस्वरूप ईश्वरत्व– महान् फल की प्राप्ति होती है।

ज्ञान ही भौतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार के अंधकार को नष्ट करने वाला दीपक है —

"नास्ति ज्ञानसमो दीपः सर्वान्धकारनाशने ।"

सभी प्रकार के अंधकार को नष्ट करने में ज्ञान-शक्ति के समान दूसरा कोई दीपक नहीं है।

चर्मचक्षु तो केवल वर्तमान में उपस्थित भौतिक पदार्थों को ही देख सकते हैं, किन्तु ज्ञान एक ऐसा नेत्र है जिसके द्वारा तीनों कालों की घटनाओं को देखा जा सकता है और आत्मा अपनी इस शक्ति के द्वारा समस्त पापों से मुक्त होकर जन्म-मरण की परम्परा का नाश कर देती है। ज्ञान के द्वारा ही सच्चा साधक, लौकिक तथा लोकोत्तर कल्याण कर सकता है। जैसा कि पूर्व में बताया गया था, अन्तर्मुहूर्त्त में ही अनन्त सुख का अधिकारी बन सकता है। मनुजी ने कहा है—

"तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।"

अर्थात् तप की साधना करने से पाप नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान की आराधना करने से आत्मा अमरत्व को प्राप्त करती है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति

होने पर ही आत्मा अजर-अमर पद को प्राप्त कर परमात्मदशा प्राप्त कर सकता है।

इसीलिये सच्चे साधक को चाहिये कि वह अगर अतिशय ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो मन पर पूर्ण नियंत्रण रखते हुए तथा अपना एक क्षण भी व्यर्थ न खोते हुए दत्तचित्त होकर ज्ञान की आराधना करे। ज्ञानप्राप्ति में बाधाओं का आना स्वाभाविक है। किन्तु बाधाओं पर विजय पाने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। कसौटी पर कसे बिना स्वर्ण शुद्ध व निर्मल नहीं होता।

ज्ञान-पथ पर चलने वालों को पग-पग पर बाधा का सामना करना पड़ता है पर आगे वही बढ़ पाते हैं जो स्थिर रहते हैं, हिम्मत नहीं हारते। संसार के प्रलोभन प्रत्येक क्षण मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु ज्ञानप्राप्ति का इच्छुक साधक किसी ओर अपनी दृष्टि नहीं टिकाता तथा चिकने घड़े पर पानी की तरह फिसलती हुई उसकी दृष्टि सिर्फ अपनी आत्मा की ओर ही उन्मुख रहती है। तभी वह अतिशय ज्ञान का अधिकारी बनकर उस ज्ञानरूपी दिव्य अग्नि से सभी कर्मों को भस्म कर देता है तथा "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" इस उक्ति को सार्थक बनाता है। आत्मा को परमात्मा बना देने वाला मूलमंत्र अतिशय ज्ञान ही है और उसका अधिकारी पुरुष अक्षय सुख की प्राप्ति करता है।

[९]

आप तिरे औरन को तारे

इस विराट् विश्व में जड़ और चेतन दो ही मूल तत्त्व हैं। इन दोनों में से जड़ वस्तुओं के विषय में तो आप और हम सभी जानते हैं कि उनमें कोई भी शक्ति ऐसी नही होती जिसके द्वारा सोच-समझकर वे स्वयं अपने लिये कुछ कर सकें या दूसरों के लिये। यह शक्ति अगर किन्हीं में है तो चेतन प्राणियों में ही है।

किन्तु चेतन प्राणियों में भी क्या सभी में ऐसी शक्ति होती है जिससे वह अपना भला बुरा समझ सकें और दूसरों के दुख व कष्टों का अनुभव कर सकें? नहीं!

संसार में हम देखते हैं कि लाखों, करोड़ों प्रकार के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, कीड़े, मकौड़े, डांस मच्छर आदि जन्म लेते है और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। किन्तु क्या महत्त्व है उनका! न उनमें असाधारण मस्तिष्क होता है और न वुद्धि अथवा विवेक ही। सिर्फ जीते हैं, अपनी शक्ति के अनुसार उदरपूर्ति कर लेते हैं और मर जाते हैं।

सिर्फ मानव ही एक ऐसा प्राणी इस पृथ्वी पर है जो महा-महिम कहला सकता है। सर्वप्रथम तो यह विचारणीय बात है कि संसार की असंख्य योनियों से वचकर मनुष्ययोनि पा लेना कितनी वड़ी वात है। अनन्त-अनन्त सुकृतों के फलस्वरूप ही मनुष्य योनि प्राप्त होती है। जिन्हें यह योनि प्राप्त होती है वह कितना भाग्यवान् होता है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। क्या एक करोड़पति अपना समस्त वैभव देकर और चक्रवर्ती सम्राट् अपने छः खंड के साम्राज्य को देकर भी मानव जीवन को खरीद सकता है? नहीं! किसी भी मूल्य पर एक मानव-जीवन खरीदा नहीं जा सकता। फिर ऐसे मानव जीवन को प्राप्त करके भी अगर मानव ने अपने तथा औरों के कल्याण के लिये कुछ नहीं किया तो इसे प्राप्त करने से क्या लाभ हुआ?

मानव समस्त भूमंडल के प्राणियों से उन्नत व श्रेष्ठ माना जाता है।

सर्वज्ञ देव का कथन है कि सिर्फ मनुष्य ही चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास कर सकता है। मनुष्य से भिन्न देवताओं की भी सृष्टि होती है तथा सांसारिक सुखों की अपेक्षा उन्हें अधिकतम सुख प्राप्त होते हैं किन्तु जहां आध्यात्मिक साधना तथा उसकी सिद्धि की ओर ध्यान जाता है तो देवता उस दृष्टि से अशक्त साबित होते हैं। देवता तो सिर्फ चार गुणस्थानों को ही पा सकते हैं किन्तु मानव चौदह गुणस्थानों को पार करके परमात्मपद भी प्राप्त कर लेता है।

यदि शारीरिक बल की तुलना की जाए तब तो वनराज सिंह, मदमस्त केसरी (हाथी) और अन्य अनेक जानवर भी मनुष्य से अधिक शक्तिशाली दिखाई देते हैं किन्तु उनमें वह बौद्धिक बल कहां जो मानव के मस्तिष्क में ही होता है। यह बौद्धिक बल ही तो है जिसके द्वारा वह दूसरे समस्त प्राणियों को अपने अधीन कर लेता है। तभी तो नीतिकार कहते हैं —

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

जिसके पास बुद्धि है वही बलवान् है। निर्बुद्धि के पास बल नहीं होता।

बुद्धि और विचारशक्ति के कारण ही मनुष्य जीव-जगत् का सम्राट माना जाता है। उसके पास असाधारण मस्तिष्क और हृदय होता है। विशिष्ट विवेक और बुद्धि होती है और अपने ज्ञान के भंडार को असीम बनाने की शक्ति होती है।

बंधुओ ! ऐसे महान् जीवन को पाकर आप इसे किस प्रकार सार्थक बनाना चाहते हैं ? आप अपने किस लक्ष्य के समीप पहुंचना चाहते हैं ! क्या इसपर आपने कभी विचार किया है ? अगर नहीं, तो क्या उसका निर्णय आपको अविलम्ब ही नहीं कर लेना चाहिये ? जीवन निमेष मात्र भी बढ़ाया नहीं जाता अतः आपको आज से ही निश्चय कर लेना चाहिये कि आप किस प्रकार अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हैं !

जीवन की सफलता के विषय में कुछ लोगों का ख्याल होता है कि जिसने अच्छे कार्य करके प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसका जीवन सफल है। कोई कहता है—जिसकी वाणी में सरसता है और जो लक्ष्मी का सदा दान करता है उसका जीवन सफल है। किन्तु वास्तविक सफलता की ये कसौटियां नहीं हैं।

संसार में सिर्फ उन्हीं महापुरुषों का जीवन सफल माना जा सकता है जो समस्त बन्धनों को नष्ट करके समग्र आत्मिक शक्तियों का विकास करके

अपने दुखों का अंत करना चाहते हैं और दूसरों के दुखों का भी। जो अपने भव-भ्रमण के अंत करने का प्रयत्न करते हैं और उसी प्रकार संसार के अन्य समस्त जीवों के भव-भ्रमणनाश की भावना रखते हैं तथा प्रयास करते रहते हैं। संक्षेप में अपना तथा दूसरों का कल्याण हो, ऐसी कामना के साथ सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

अपने लिये तो सभी जीते है पर जो दूसरों के लिये भी जीता है वही महान् है। आत्मीयता की इस भावना के विकास का भी एक क्रम होता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सिर्फ अपने ही स्वार्थ तथा अपने ही शारीरिक सुख का ध्यान रखते हैं। कुछ ऐसे होते हे जो अपने परिवार व सगे-संबंधियों की हितचिंता में लीन रहते हैं। उनसे जो उच्च होते हैं वे अपने देश की भलाई व सुखसमृद्धि का प्रयत्न करते है किंतु जिनका हृदय उनसे भी अधिक विशाल होता है, वे विश्व के प्रत्येक प्राणी के सुख को अपना सुख तथा दुख को अपना दुख समझते हैं। उनके हृदय में भगवान महावीर की पुनीत शिक्षा के अनुसार सदा यही कामना रहती है -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

अर्थात् सभी प्राणी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सभी का कल्याण हो, कोई भी कष्ट का भागी न बने।

सच्चे सन्त विश्व के समस्त प्राणियों को अपना जैसा ही समझते है। प्रत्येक नर-नारी यहां तक कि क्षुद्र से क्षुद्र जीव-जन्तु को भी वे आत्मवत् मानते हैं। ऐसे विशाल हृदय वाले तथा उदार भावना वाले महापुरुष न केवल अपने लिये सुख व शांति की उपलब्धि करते हैं, प्रत्युत जहां भी जाते हैं वहीं शांति का साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। उनके साथ कोई दुश्मनी करे तब भी घृणा की अथवा बदले की भावना उनके हृदय में नहीं आती। इसके विपरीत वे उस प्राणी की भी कल्याणकामना ही करते हैं।

भगवान् महावीर को विषधर चंड कौशिक ने डंस लिया, किन्तु भगवान के हृदय में तब भी उसके प्रति महान् दया की भावना ही थी। ईसा-मसीह को सूली पर चढ़ाया गया तब भी उनकी भावना अपने घातकों के लिये यही थी कि भगवान् इन्हें सद्बुद्धि दे। आज भी ऐसे महपुरुषों की कमी नहीं है। यद्यपि आधुनिक समय के विषय में कहा जाता है कि कलिकाल अपना

अनिष्ट प्रभाव लेकर आ गया है। लोगों की मनोवृत्ति दूषित हो गई है और न वे नीति-अनीति की परवाह करते हैं न पाप-पुण्य की ही।

निस्संदेह इस कथन में, कुछ अंशों में सिचाई है किन्तु यह नितांत सत्य नहीं है। आज भी हम दैवी शक्ति से अलंकृत ऐसे दिव्य पुरुषों को पाते हैं, जिनके हृदय में वैर, विरोध, राग, द्वेष तथा वैमनस्य क्षण भर के लिये भी स्थान नहीं पाते। वे संयमशील समभावी तथा सद्दर्शी होते हैं। वे किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में शांति और धैर्य का त्याग नहीं करते, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है –

> निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तवन्तु,
> लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थात् धीर पुरुषों की चाहे निन्दा हो या स्तुति, वैभव उनके पास आवे या जावे, मृत्यु उनकी आज ही हो जाय या युग-युग तक जीवन बना रहे वे किसी भी अवस्था में धर्म तथा न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।

ऐसे ही व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत बनाते हैं और साथ ही दूसरों को भी सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। उनका जीवन वास्तव में एक नौका के सदृश होता है जो स्वयं तैर जाती है तथा अपने आश्रित अन्य प्राणियों को भी पार उतार देती है।

स्थानांग सूत्र की एक चौभंगी में मानवहृदय की भावनाओं का सूक्ष्म विवेचन करके पुरुषों के चार प्रकार बताए हैं। सूत्र इस प्रकार है—

'चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा—आयंत-करे नामेगे नो परंत-करे, परंतकरे नामेगे नो आयतकरे, एगे आयंतकरे वि परंतकरे वि, एगे णो आयंतकरे णो परंतकरे।'

अर्थात् पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(१) जो अपने भवों का अन्त करते हैं पर दूसरों के भवों का नहीं।

(२) जो दूसरों के भवों का अंत करते हैं पर अपने भवों का नहीं कर पाते।

(३) जो अपने भी तथा पर के भी भवों का अंत करते हैं।

(४) वे पुरुष, जो न तो अपनी भवपरम्परा का अंत कर पाते हैं और न दूसरों की।

'प्रथम प्रकार के पुरुषों में उनका समावेश होता है जो स्वयं तो भव-सागर पार कर जाते हैं किन्तु औरों को नहीं करा सकते। वे अपनी ही जन्म-मरण की परम्परा का नाश करते हैं। ऐसे पुरुष होते हैं प्रत्येक बुद्ध।

वैसे बुद्ध तीन प्रकार के होते हैं। (१) स्वयं बुद्ध (२) प्रत्येक बुद्ध तथा (३) बोधित बुद्ध।

स्वयंबुद्ध वे होते हैं जो किसी गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं करते किन्तु अपने क्षमोपशम के द्वारा जातिस्मरण ज्ञान होने पर तीर्थंकर की तरह स्वयं ही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

प्रत्येक बुद्ध भी यद्यपि बिना गुरु के ही ज्ञान प्राप्त करते हैं किन्तु उनके बोध प्राप्त करने में कोई बाह्य निमित्त भी अवश्य होता है।

तीसरे जो बोधितबुद्ध होते हैं वे अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त करते हैं। आज जो साधु, महात्मा, संतजन पाए जाते हैं वे गुरुओं के द्वारा प्राप्त ज्ञान को ग्रहण करने के कारण बोधितबुद्ध कहे जा सकते हैं।

हाँ, तो मैं उन प्रत्येक बुद्धों के विषय में कह रहा था जो स्वयं अपने भवों का नाश कर लेते हैं पर दूसरों का नहीं करते। इनकी विशेषताएँ यही हैं कि ये किसी अन्य को गुरु नहीं बनाते। किसी भी बाह्य निमित्त के योग से उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हो जाता है। वे पिछले भवों के साधु-जीवन का स्मरण आने से विरक्त हो जाते हैं। ऐसे पुरुष किसी को शिष्य नहीं बनाते और न उपदेश देते हैं। वे स्वयं उत्कट साधना करते हैं तथा कर्मों का समूल नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

वैसे तो तीर्थकरों के समय में अनेक प्रत्येक बुद्ध हुए हैं किन्तु भगवान् महावीर स्वामी के समय में जिनका मुख्य रूप से वर्णन आता है वे हैं (१) नमिराज (२) निग्गई (३) दुर्मुख तथा (४) करकण्डू।

विदेहराज नमिराज को विरक्ति उस समय हुई जब कि उनकी अत्यन्त रुग्णावस्था-दाहज्वर में उनकी रानियां चन्दन घिस रहीं थीं। रानियों के करों में कंकण (चूड़ियां) थे। उनका शब्द राजा को अत्यन्त कष्टकर मालूम हो रहा

था। रानियों ने सिर्फ एक-एक चूड़ी रखकर सब चूड़ियां खोल दीं। जब चूड़ियां खोल दी गई तब राजा को अत्यंत शांति महसूस हुई। उनके हृदय में यह भावना आ गई कि संसार के समस्त पदार्थ आत्मा के लिये अहितकारी हैं, एकाकीपन में ही सच्ची शक्ति है।

इसी प्रकार कलिंग के राजा करकण्डू को वैराग्य हुआ था। एक बार वे वन-यात्रा करने के लिये गए थे। लौटते समय अचानक ही वे अपनी गोशाला के निरीक्षणार्थ पहुँचे। वहां उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर, श्वेत, हृष्ट-पुष्ट बछड़ा देखा। बछड़ा उनके मन को अत्यन्त प्रिय लगा, अतः उन्होंने उसके पालन-पोषण के लिये कर्मचारियों को विशेष सावधानी रखने की हिदायत दी और कहा—इसकी माता का सारा दूध इसे पिलाया जाय तथा समय-समय पर इसको अन्य पौष्टिक पदार्थ भी खिलाए जायँ।

बछड़ा बड़ा सुन्दर था। पौष्टिक पदार्थ खाकर वह और भी निखर आया। राजा प्रायः उसको देखते, खिलाते तथा मुदित हुआ करते। कुछ वर्ष बीतने पर बछड़ा युवावस्था पार कर गया और वृद्धावस्था की ओर बढ़ चला। अंत में एक दिन ऐसा आया कि वह अंतिम घड़ियां गिनने लगा।

राजा करकण्डू उसके पास ही थे। वे सोचने लगे—मेरे देखते-देखते वह सुन्दर तथा मनमोहक बछड़ा कैसे वृद्ध हो गया ! वृद्ध ही नहीं, आज यह अपनी अंतिम सांसे ले रहा है। यह निमित्त मिला कि राजा को संसार के समस्त पदार्थों की नश्वरता समझ में आ गई और वे विरक्त हो गए। उन्होंने समझ लिया कि एक धर्म के अलावा संसार की समस्त वस्तुएं नश्वर हैं अतः धर्म का सहारा लेकर आत्मा का कल्याण करना चाहिये। पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने धर्म की महिमा बड़े सुन्दर ढंग से समझाई है—

संसार सारा जिसके बिना है, अत्यन्त निस्सार मसान जैसा,
साकार है शांति वसुंधरा की, हे धर्म ! तू ही जग का सहारा।
तीर्थेश चक्री अवलंब लेके, संसार से हैं तरते सदा ही,
आराधना को मुनिराज तेरी, आगार को त्याग अरण्य जाते।

बंधुओ ! धर्म आत्मा का विषय है और उसकी वृद्धि चिंतन से, ज्ञान से, तपस्या से तथा साधना से होती है। महात्मा गांधी ने धर्महीन मनुष्य की स्थिति का वर्णन किया है—

"विना धर्म का जीवन विना सिद्धांत का जीवन होता है और विना सिद्धांत का जीवन वैसा ही है जैसा कि बिना पतवार का जहाज। जिस तरह विना पतवार का जहाज मारा-मारा फिरेगा, उसी तरह धर्म-हीन मनुष्य भी संसार-सागर में इधर-से-उधर मारा-मारा फिरेगा और कभी भी अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुच सकेगा।"

अव हम अपने मूल विषय पर आएं। मनुष्य के चार प्रकारों की चर्चा की जा रही है। प्रथम प्रकार के पुरुष, जो स्वयं तिर जाते हैं पर दूसरों को नहीं तिरा सकते, उनके विषय में आप समझ चुके होंगे।

दूसरे प्रकार के वे पुरुष होते हैं जो दूसरों के भवों का अन्त कर देते हैं किन्तु अपने भवों का अन्त नहीं कर पाते। वे उपदेश देते हैं और उसे सुनने वाले जो चरम शरीरी भव्य होते हैं वे उसी भव में मुक्त हो जाते हैं किन्तु उपदेश देनेवाले मुक्ति प्राप्ति नही कर पाते। 'दिया तले अन्धेरा' कहावत यहां चरितार्थ होती है।

आपको आश्चर्य हो सकता है कि जो औरों को तार देता है वह स्वयं क्यों नहीं तर पाता? पर यह सत्य है और अनेक उदाहरण इस प्रकार के हमारे सामने आते हैं। इस प्रकार के साधु द्रव्यलिंगी साधु कहलाते हैं।

आचार्य अंगारमर्दक के पाँच सौ शिष्य थे। वे सभी, आचार्य के उपदेश का श्रवण करते थे तथा अपनी संयमसाधना पूर्ण दृढ़तापूर्वक करते थे। पूर्ण संयम का पालन करने के कारण शिष्य मोक्ष को प्राप्त हुए किन्तु आचार्य उससे वंचित ही रहे।

एक वार एक राजा को स्वप्न आया कि पाँच-सौ हाथियों का एक झुंड चला आ रहा है किन्तु उन सभी का नेतृत्व एक भैंसा कर रहा है। कुछ काल पश्चात् राजा को समाचार मिले कि आचार्य अंगारमर्दक अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ उनके नगर की ओर पधार रहे हैं।

राजा ने अपने स्वप्न को ध्यान में लाते हुए उन संतों की परीक्षा लेने का विचार किया। नगर के वाहर जहां साधु ठहरे थे, रात को उस मकान के चारों ओर कोयला विछवा दिये।

कुछ रात्रि बीतने के वाद जब साधु वाहर निकले तो जमीन काली काली देख कर विचार करने लगे कि दिन को तो यहाँ कुछ भी नहीं था।

'To be proud of learning is the greatest ignorance :—अपनी विद्वत्ता पर अभिमान करना सबसे बड़ा अज्ञान है।

अपने झूठे ज्ञान के दंभ के कारण वे ज्ञानियों की उपेक्षा तथा उनका परिहास भी करने से नहीं चूकते। कहा भी है

निपट अबुध समझैं कहा, बुध-जन-वचन-विलास।
कबहू भेक न जानई, अमल कमल की वास।।

ऐसे अज्ञानी साधक सत्-असत् में होनेवाले भेद को नहीं समझते तथा सत् का त्याग करके असत् को अपना लक्ष्य बना लेते हैं। असत् ही अंधकार कहलाता है और उसमें अज्ञानी विवेकरूपी दीपक के बिना ठोकरें खाते रहते हैं। कनफ्यूशस ने कहा है—

Ignorance is the night of the mind.

अज्ञान मन की रात्रि है इसमें भटकने वाला साधक अपने भव-भ्रमण का कदापि अन्त नहीं कर सकता और न दूसरों के भवों का अन्त करने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

सज्जनो ! स्थानांग सूत्र की चौभंगी के आधार पर जिन चार प्रकार के पुरुषों के विषय में बताया है, आपने उनके विषय में समुचित रूप से जान लिया है। आपने यह भी जान लिया है कि किस प्रकार के पुरुष अपने जन्म-जन्मांतरों की परम्परा को समाप्त कर सकते हैं और दूसरों के भी सहायक बनते हैं। ऐसे तरण-तारण पुरुष बन सकना अत्यन्त उत्कृष्ट साधना तथा अलौकिक आत्मशक्ति का कार्य है।

आज साधारण व्यक्ति के लिये इतनी उच्चता प्राप्त कर लेना असंभव नहीं तो भी महादुस्तर कार्य अवश्य है। फिर भी मनुष्य को हताश नहीं होना चाहिये। उन्हें गुजराती की इस उक्ति को समझना चाहिये—

कांकरे कांकरे पाल बंधाय।
टीपे टीपे सरोवर भराय।

अर्थात् एक एक कंकर के द्वारा सरोवर की पाल बनाई जा सकती है और जल की एक-एक बूंद से उसे भरा भी जा सकता है।

मनुष्य अगर सही मार्ग पर चलने की शुरुआत करे तो कभी-न-कभी वह अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर सकता है। हम अगर उत्कट साधना,

उग्र तपस्या तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं कर सकते तो भी इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि अपनी कषायों को कम करें। ईर्ष्या, द्वेष तथा वैमनस्य का कुछ अंशों में त्याग करें। अपने द्वारा किसी भी अन्य प्राणी को दुःख न दें। किसी को मारणांतिक कष्ट न पहुँचाएँ।

कदाचित् भूल से किसी व्यक्ति को हमारे द्वारा कष्ट पहुँचा हो, किसी के प्रति अनुचित व्यवहार हो गया हो या किसी प्राणी की हिंसा भी हो गई हो तो उसके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करें और भविष्य में वह भूल पुनः न हो उसके लिये कटिबद्ध होकर प्रयास करें।

इसी दृष्टि से अभी हमने जिस चौभंगी का विवेचन किया है उसके आगे भी एक चौभंगी का निर्माण किया गया है। उसे समझना तथा उसके अनुसार प्रयत्न करना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। सूत्र इस प्रकार है :—

'चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - आयंतमे नामेगे णो परंतमे, परंतमे नामेगे णो आयंतमे; एगे आयंतमे वि परंतमे वि, एगे णो आयंतमे णो परंतमे।"

अर्थात् पुरुष चार प्रकार के होते हैं। प्रथम वे जो अपना अन्त करते हैं अर्थात् आत्मघाती होते हैं किन्तु परघाती नहीं होते। दूसरे प्रकार के वे हैं जो परघाती होते हैं आत्मघाती नहीं। तीसरे प्रकार के पुरुष अपना भी घात करते हैं और दूसरों का भी। इसके विपरीत चौथे प्रकार के पुरुष न अपना घात करते हैं और न पर का।

इन चारों प्रकार के पुरुषों के विषय में कुछ विस्तृत रूप से समझने की आवश्यकता है। चौभंगी में जिस प्रकार का प्रथम पुरुष बताया है वह स्वयं कष्ट सहन कर लेता है किन्तु औरों को कष्ट नहीं पहुँचाता। गाँव के मुखिया, देश के नेता और धर्मगुरु आदि स्वयं कष्ट उठाते हैं किन्तु अपने गाँव देश या धर्म पर आँच न आए इसका प्रयत्न करते हैं।

अनेक बार दो राजा आपस में ही द्वन्द्व युद्ध करते हैं ताकि वे स्वयं भले ही मृत्यु को प्राप्त हो जायँ किन्तु उनकी प्रजा और शत्रु की प्रजा के भी निरपराध व्यक्तियों का खून-खच्चर न हो। गांधीजी ने भारत को गुलामी से मुक्त करने का अथक प्रयत्न जीवन भर किया। समस्त भारतवासियों को भी उन्होंने प्रेरणा दी कि स्वयं कष्ट सहन करके आजादी लो, हिंसात्मक कार्य-

अव ये हजारों जीव कैसे आगए ? समयानुसार सभी शिष्य बाहर गए पर कोयलों को जीव-जन्तु समझकर वापिस लौट आए ।

थोड़ी देर बाद आचार्य निकले और निःशंकभाव से, ये कीड़े-मकोड़े हैं या क्या इस बात का विचार किए बिना ही उन्हें रौंदते हुए चल पड़े ।

इस प्रकार निष्करुण आचार्य अंगारमर्दक ने बिना परीक्षा किए कोयलों को रौंद दिया । इसी घटना के कारण उनका अंगारमर्दक नाम हुआ । हृदय में करुणा भाव न होने के कारण उनके भवभ्रमण का अन्त नहीं हुआ जब कि उनके शिष्य मुक्त हो गए ।

मुनिवृत्ति एक ऐसी कसौटी है जिसपर मनुष्य की शान्ति, संयम तथा दया वृत्ति की परख होती है । जिनके हृदय में करुणा नहीं है वे मुनिवृत्ति अंगीकार करके भी वास्तविक मुनिपद के अधिकारी नहीं हैं ।

अहिंसा व करुणा की महत्ता को प्रत्येक धर्म ने एक स्वर से स्वीकार किया है । इस्लाम जैसे धर्म में भी दया करने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं । एक स्थान पर लिखा है –

'मुहम्मद साहब अपने शत्रुओं से बचने के लिये एक अवसर पर घर से निकल पड़े किन्तु शत्रुओं ने उनका पीछा किया । मुहम्मद साहब एक गुफा के समीप पहुंचे, पर उसके मुख पर मकड़ियों के जाले होने के कारण कहीं अन्यत्र छिप गए । प्राणहारी संकट की घड़ी में भी मुहम्मद साहब मकड़ी के जाल तोड़ने की निर्दयता न कर सके ।

शत्रु जब वहां पहुंचे तो यह देख कर कि गुफा के द्वार पर मकड़ी के पुराने जाले ज्यों के त्यों विद्यमान हैं, उस ओर नहीं गए और लौट आए । इस प्रकार मुहम्मद साहब के करुणा भाव ने उनकी प्राणरक्षा की ।

कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य कितना भी विद्वान् क्यों न हो, और कितना भी उपदेश देने में कुशल क्यों न हो, पर अगर वह स्वयं उन उपदेशों के अनुसार आचरण नहीं करता और अगर उसके हृदय में करुणा भाव नहीं है तो वह दूसरों को सन्मार्ग दिखाकर दूसरों का कल्याण कर सकता है पर अपना नहीं कर पाता । ऐसे व्यक्तियों के लिये ही कहा जाता है—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे,
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।

दूसरों को उपदेश देने वाले तो बहुत होते हैं किन्तु उनपर स्वयं आचरण करने वाले विरले ही मिलते हैं। इसके विपरीत, जो सच्चे साधक हैं वे प्रवचन-प्रशंसा अथवा गुरु-पद प्राप्त करने के अभिलाषी नहीं होते, उनका समस्त प्रयास अपनी आत्मा को उन्नत करने के लिये होता है। ऐसे ही एक साधक का कथन है —

There is nothing, I need so much as norishment for my selfesteem

—मुझे दूसरी किसी वस्तु की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि आत्मपूजा की भूख के पोषण की।

अब हम तीसरे प्रकार के पुरुषों के विषय में विचार करने जा रहे हैं। तीसरे प्रकार के पुरुष वे होते हैं जो कि अपने जन्म-मरण के दुःखों का अन्त करते हैं तथा दूसरों के दुःखों का भी अन्त करते हैं।

ऐसे दिव्य पुरुष तीर्थंकर हैं, जो उत्कट साधना करके केवलज्ञान की प्राप्ति करते हैं और फिर भव्य जीवों को तात्त्विक उपदेश देते हुए उनके दुःखों का भी अन्त करने में निमित्त बनते हैं। तीर्थंकरों की धर्मदेशना से श्रोता पुरुष भी अपने समस्त कर्मों का नाश कर लेते हैं।

इस प्रकार तीर्थंकर स्वयं मुक्त होते हैं तथा दूसरों को भी मुक्त करते हैं। स्थविरकल्पी साधु भी इसी कोटि के होते हैं। वे भी अपने को तथा अपने साथ दूसरों को भी भव-सागर से पार उतार देते हैं।

चौथी श्रेणी के वे पुरुष होते हैं जो न तो अपना कल्याण कर सकते हैं और न दूसरों का ही। न वे अपने कर्मों का ही नाश करते हैं और न दूसरों के कर्मों को नष्ट करने में सहायक होते हैं।

ऐसे पुरुष अज्ञानी कहलाते हैं। वे कर्मों के भार से लदे हुए जन्म-मरण के चक्र में फंसे रहते हैं और अनेकानेक योनियों में चक्कर खाते-फिरते हैं। उनमें से बहुतों में एक बड़ा अवगुण यह होता है कि अपने आपको बड़ा ज्ञानी समझते हैं। जानते कम हैं किन्तु जानने का दावा बहुत करते हैं। वे अपने क्षुद्र ज्ञान को भी बोध की पराकाष्ठा मानते हैं। यह भ्रान्ति ही उनकी दयनीय दशा की द्योतक होती है। क्योंकि वे अपनी अज्ञानता को भी नहीं पहचानते और जो अज्ञानता से अनभिज्ञ हो वह उसे दूर कैसे कर सकता है! वह कभी भी यह नहीं समझ पाता कि—

वाही के द्वारा नहीं। और इसीलिये "चौराचौरी" स्थान पर उत्तेजित जनता के द्वारा पुलिस चौकी को जला डालने का तथा उसके अधिकारियों की हत्या करने का समाचार मिलते ही उन्होंने सम्पूर्ण भारत में चल रहे आंदोलन को एकदम रोक दिया। गांधीजी ने स्वयं अनेक कष्ट सहन किये तथा अपने प्राणों की तनिक भी परवाह किये बिना लगातार कई-कई दिनों तक उपवास भी किये। किन्तु कभी अंग्रेज सरकार के किसी अधिकारी को भी तकलीफ़ पहुँचाने की अथवा उसका घात करने या कराने की भावना उनके हृदय में नहीं आई।

आजकल भी गोवध की समाप्ति के लिये आन्दोलन चल रहा है। गोहिंसा न हो, इसके उद्देश्य के लिये अनेक पुरुष अनशन कर रहे हैं। अपने प्राणों की ममता छोड़कर ही वे इस व्रत को अपनाते हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य की तो बात क्या पशु को भी कष्ट न हो, इसके लिये भी महान् आत्माएँ अपने शरीर को त्याग देने के लिये तत्पर रहती हैं।

मुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर उनके श्वसुर सोमिल ने अंगारे रख दिये। अल्पसमय में ही मस्तक की हड्डियाँ चटक-चटक कर फट गईं किन्तु मुनि ने अपने प्राणों की परवाह नहीं की और न ही अपने ससुर के प्रति बदला लेने की भावना उनमें आई। राजा मेघरथ ने एक कबूतर के प्राण बचाने के लिये अपना सम्पूर्ण शरीर ही शिकारी को समर्पित कर दिया।

ऐसे व्यक्ति होते हैं जो आत्मघात हो जाने पर भी दूसरों को खेद नहीं पहुँचाते।

चौभंगी में दूसरे प्रकार के पुरुष वे बताए गए हैं जो स्वयं अपने को तनिक भी कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते पर दूसरों को कष्ट पहुँचाने में तत्पर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति महास्वार्थी और क्रूर होते हैं। अपने स्वार्थ-साधन के लिये वे दूसरों का घात करने से भी नहीं चूकते।

स्वार्थ के मूल में लोभ की प्रवल भावना होती है। लोभ को शान्त करने के लिये जैसे-जैसे परिग्रह का संचय होता है, वैसे-वैसे ही स्वार्थ की भावना बलवती होती जाती है। स्वार्थी पुरुष सदा यही सोचा करता है—मेरे भंडार भरे रहें, भले औरों के उदर भी खाली रहें। स्वार्थ का अन्त नहीं आता क्योंकि लोभ और तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता। उत्तराध्ययन सूत्र में लोभ का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा गया है :—

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥

अर्थात् कैलाश पर्वत के समान विशालकाय सोने-चांदी के असंख्यात पर्वत भी क्यों न हों, लोभी मनुष्य का उनसे मन नहीं भरता, क्योंकि आकाश की तरह इच्छा का कहीं अन्त नहीं है।

लोभी मनुष्य को न तो अपने सम्मान का ध्यान रहता है और न ही दूसरों के सम्मान का। कभी-कभी तो लोभवृत्ति इतना भयंकर रूप धारण कर लेती है कि उसके कारण मनुष्य घृणित और नीच-से-नीच कृत्य करने को भी तत्पर हो जाता है, यहाँ तक कि हत्याएं भी कर डालता है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो अनेकों घटनाएँ हमारे सामने आ जाएंगी, जिनमें पुत्र ने पिता को, भाई ने भाई को अथवा अपने बहन-बहनोई को लोभान्ध होकर मार डाला। इसीलिये कहा गया है :—

मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम्॥

लोभी व्यक्ति माता, पिता, पुत्र, भाई स्वामी और मित्र आदि किसी को भी मार डालता है।

क्रोध परघात का दूसरा कारण होता है। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य में उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता और वह फ़ौरन मरने-मारने के लिये तैयार हो जाता है। उसे कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का भान नहीं रहता। तभी कहा गया है—

"Anger blows out the lamp of the mind, and when passion is on the throne reason is out of the door."

अर्थात् क्रोध मन का दीपक बुझा देता है। और उसके सिंहासनासीन होते ही बुद्धि वहाँ से खिसक जाती है।

परघाती व्यक्ति अपने जन्म-मरण का अन्त नहीं कर पाते। किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाना ही महापाप है, फिर उसका वध करना तो कितने

भव-भ्रमण का कारण होगा, इसका अंदाज भी नहीं लगाया जा सकता। इसीलिये जैनशास्त्रों में अहिंसा के समर्थन में बड़ी ही सबल युक्तियाँ दी गई है। कहा है :--

सव्वे जीवावि इच्छंति,
जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं,
निग्गंथा वज्जयंति णं।

अर्थात् संसार के सभी जीव, चाहे दरिद्र हों, रोगी हों, दुःखी हों या किसी भी अवस्था में हों, जीवित रहना चाहते हैं। सभी को वध अप्रिय होता है। इसी कारण जैनमुनि महाभयावह हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं। प्रत्येक मनुष्य को विशेषतः सावक को जहाँ तक बन सके हिंसा का त्याग करना ही चाहिये।

जो व्यक्ति दूसरे जीवों का घात करता है वह कभी भी सत्पुरुष नहीं कहा जा सकता। कसाई सर्वदा दुनिया की दृष्टि मे अत्यन्त निकृष्ट प्राणी गिना जाता है।

तीसरे प्रकार के पुरुष वे होते हैं जो अपना भी घात करते हैं और दूसरों का भी। जैसा कि मैंने अभी बताया था, क्रोध के वशीभूत होकर पुरुष मरने व मारने को तैयार हो जाते हैं। क्रोध की उत्तेजना में मनुष्य किसी की हत्या कर डालता है और फिर उसके परिणामस्वरूप मिलनेवाली सजा भुगतने के डर से स्वयं भी आत्महत्या कर लेता है।

अनेक बार अति दरिद्रता के कारण तथा भरपेट अन्न भी न जुटने के कारण मनुष्य अपनी तथा अपने बच्चों की भी हत्या करके उस दरिद्रता से पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करते है। राजपूत जाति के इतिहास में तो अनेकों उदाहरण ऐसे मिलते है कि तनिक-सी बात पर दो व्यक्ति आपस में कट मरे।

ऐसे व्यक्ति स्वयं भी कष्ट पाते हैं तथा औरों को भी कष्ट देते हैं। अत्यंत क्रोधी, लोभी और स्वार्थी व्यक्तियों के हृदय में करुणा नही होती और वे दूसरों को दुःख पहुँचाते हैं तथा स्वयं भी दुखी होते हैं। कषायों की तीव्रता में मनुष्य बेईमान बन जाता है और स्व तथा पर का भेद भूलकर स्वयं दुःख पाता हुआ दूसरों को भी दुखी करता है। ऐसा व्यक्ति न इहलोक में ही सुख

प्राप्त करता है और न ही परलोक में सुख की आशा कर सकता है। शेख-सादी ने कहा भी है—

> खुदा रावर आँ वन्दा, वर-शाइश अस्त।
> कि खल्क अज़ वजूदश दर आसाइश अस्त॥

अर्थात् खुदा उसी पुरुष को कृतकृत्य करेगा जिसके हाथों से किसी भी जीव को हानि नहीं पहुँचती।

चौथी श्रेणी के पुरुष आदर्श महापुरुष कहलाते हैं। उनका स्थान सर्वोपरि होता है। वे न दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं और न स्वयं ही खेद का अनुभव करते हैं। जिसमें कषायों की मंदता होती है तथा जिनका मोह क्षीण हो जाता है वही व्यक्ति इस स्थिति में आ पाता है। ऐसे वीतराग पुरुष ही अपनी भव-परम्परा का अन्त करने में कभी-न-कभी अवश्य सफल होते हैं।

मनुष्य में अगर मनुष्यता जैसी कोई वस्तु है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा मनुष्य की प्रकृति का ही एक अविभाज्य अंग है। इसके अभाव में कोई मनुष्य मनुष्यता का अधिकारी नहीं हो सकता। न केवल मनुष्य में वल्कि पशु-पक्षियों में भी हम अहिंसा की प्रवृत्ति देख सकते हैं। सिंह को हम सबसे क्रूर तथा हिंसक प्राणी मानते हैं किन्तु विचार किया जाए तो विदित होता है कि अपनी संतान पर उसका भी कितना प्रेम तथा कितनी दया है! अन्यथा वह अपनी संतान को ही न खा जाता!

अहिंसा के विना विश्व का पल भर भी काम नहीं चल सकता। उसका अधिक-से-अधिक मात्रा में पालन करना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है। प्रत्येक जाति के मनुष्य का कर्त्तव्य है।

कुछ व्यक्ति अहिंसा को जैन-धर्म का ही सिद्धांत मानते हैं। वे भारी भूल करते हैं। अहिंसा को प्रत्येक धर्म ने अपना अनिवार्य अंग माना है। शेख-सादी की एक उक्ति मैंने अभी आपको सुनाई थी। ईसाइयों की इंजील में भी कहा है—'Thou shalt nct kill'. यानी तू किसी का वध नहीं करेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों के ग्रंथ हिंसा को वर्जित करते हैं तथा परघात को त्याज्य मानते हैं।

वंधुओ! आज आपने स्थानांग सूत्र की दो चौभंगियों के द्वारा समझ

लिया होगा कि कैसे पुरुष अपनी भव-परम्परा का अन्त कर सकते हैं और दूसरों को भी भव-सागर से पार उतार सकते हैं। वही दिव्य आत्माएँ और साधक अपने जन्म-मरण का अन्त कर सकते हैं जो स्वप्न में भी दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचाते तथा अहिंसा का पालन करते हुए आत्म-घात अथवा पर-घात दोनों को त्याज्य मानते हैं।

हिंसा का अर्थ किसी के प्राण लेना ही नहीं है अपितु किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाना भी हिंसा है। किसी के प्रति मन में दुर्भाव आना, किसी को कष्ट पहुँचाने का विचार उत्पन्न होना भी हिंसा है। जितना कषायभाव है, सब हिंसा ही है। उस सबका त्याग करना अहिंसा है।

चौभंगी में चार प्रकार के पुरुष बताए गए हैं। आपको देखना है कि आप उनमें से किस श्रेणी में हैं ? आप जिस श्रेणी को उपयुक्त समझते हैं, अगर उसमें नहीं हैं तो उसमें पहुँचने का प्रयत्न करना आवश्यक है। अन्यथा प्रवचन सुनना कोई अर्थ नहीं रखेगा। जो भी बात सुनी जाए, उस पर चिन्तन और मनन करना तथा यथाशक्य उसपर अमल करना ही उन्नति का चिह्न होता है।

आज के संसार की स्थिति अत्यंत विषम एवं चिंतनीय है। सिर्फ साधकों को ही नहीं अपितु समाज और देश के नेताओं को भी विस्तृत रूप से विचार करते हुए अपने कदम उठाने चाहिये। क्योंकि लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के जीवन उनके इंगित मात्र पर खत्म हो जाते हैं।

मनुष्य का आदर्श ऐसा होना चाहिये कि वह भूलकर भी कभी सत्ता तथा सम्पत्ति के सामने मस्तक न झुकाए। उसे स्वार्थ का पुजारी नहीं बनना चाहिये, अहिंसा का पुजारी बनना चाहिये। स्वार्थ में सिद्धि नहीं, उससे संतुष्टि नहीं होती। किसी ने कितना सुन्दर कहा है—

"Self love is a pot without any bottom you might pour all the great lakes into it but never fill it up."

स्वार्थ एक फूटे हुए घड़े के समान है, जिसमें आप सागर के सागर क्यों न उंड़ेल दें फिर भी वह कभी भरा नहीं जा सकता।

युग परिवर्त्तनशील है। अगर हम स्वयं नहीं बदलेंगे तो जमाना हमें

बदल देगा। लेकिन उस बदलने में अन्तर इतना होगा जितना बीमार बनकर सोने में और थककर सोने में होता है।

सच्चा साधक या महापुरुष वही कहला सकता है जो दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानता है। दूसरों की विपदाओं को अपनी विपदा समझता है। और दूसरों के घात को अपने मर्मान्तिक दुःख का कारण मानता है। अनेक वर्षों तक तपस्या करके देह को सुखाने की अपेक्षा एक प्राणी के जीवन का रक्षण करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसके हृदय में ऐसी भावनाएँ हैं वह स्वयं अपना तथा औरों का कल्याण कर सकता है तथा अनन्त सुख का स्वामी बन सकता है। ऐसा दिव्यात्मा पुरुष ही अपने जन्म-जन्मांतरों का क्रम रोककर भव-भ्रमण से छुटकारा पा सकता है।

●

[१०]

आत्म-दमन : एक अद्भुत शक्ति

गेहूँ का एक दाना भूमि में बोया जाता है। उस छोटे-से दाने से एक एक पौधा अंकुरित होता है। उस एक पौधे में अनेकों गेहूँ के दाने पड़ जाते हैं। ठीक इसी प्रकार हमारी एक अशुभ भावना अनेकों अशुभ भावनाओं को और शुभ भावना अनेकों शुभ भावनाओं को जन्म देती है।

शास्त्रों का विधान है कि जीव एक समय जितने सूक्ष्मतम भाग में ही अनन्तानन्त कर्म-पुदगलों का बंध कर लेता है। अगर भावना शुभ होती है तो शुभ परमाणुओं का और, अगर अशुभ हुई तो अशुभ परमाणुओं का बंध होता है। इन शुभ तथा अशुभ भावनाओं की उत्पत्ति का स्थान हमारा मन ही है।

जबतक हमारे मन में मलिन भावनाएँ भरी रहती हैं, मन अनेकों प्रकार की कामनाओं से आकुल-व्याकुल रहता है। अनेकों प्रकार की आशंकाएँ, भय तथा संदेह मन को व्यथित करते रहते हैं। छोटी-से-छोटी बात या घटना हृदय में क्रोध को उत्पन्नि कर देती है। आवश्यकता से बहुत अधिक सम्पत्ति मिल जाने पर भी और अधिक पाने की तृष्णा नहीं मिटती। लोभ बना ही रहता है। साथ ही अभिमान की मदिरा भी अपना प्रभाव बनाए रहती है और हित तथा अहित का विवेक नष्ट कर देती है। औरों की उन्नति देखकर हृदय पर सांप लोट जाता है। ईर्ष्या से जल उठते हैं। दूसरों के अच्छे से अच्छे कार्य में भी दोष दिखाई देते हैं।

जब हृदय की ऐसी स्थिति होती है तब समझना चाहिए कि हमारे हृदय में अशुभ भावनाओं का विष-वृक्ष फल-फूल रहा है और कल्याण की कोई संभावना नहीं है।

उन अशुभ भावनाओं को शुभ रूप में परिणत करने के लिये और उन्हें पूर्ण विशुद्ध रूप में लाने के लिए मन को साधने की आवश्यकता होती है।

कोई भी साधक व्रत, उपवास, तपश्चर्या आदि जो कुछ भी करता है

मन को साधने के लिये ही करता है। इन्द्रिय-निग्रह करने का प्रधान उद्देश्य मन का निग्रह करना होता है। मन इन्द्रियों का स्वामी है अतः उसे वश में कर लिया जाय तो इन्द्रियाँ अनायास ही वश में हो जाती हैं। मन पर विजय पाना ही आत्मविजय है। शास्त्र में कहा गया है :—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तु जिणामहं॥

अर्थात् एक मन को जीत लेने पर पाँच इन्द्रियों को जीत लिया जाता है और पाँच (इन्द्रियों) को जीत लेने पर दस -मन, पाँच इन्द्रियाँ, चार (कषाय) जीत लिये जाते हैं। इन दसों को जिसने जीत लिया, उसने सभी आत्मिक शत्रुओं को जीत लिया।

साधना का उद्देश्य मन व इन्द्रियों को वश में करना है और इसीलिये साधक अनेक प्रकार के उपाय करता है। पर वह कोई भी साधन क्यों न अपनाए, सर्वप्रथम उसको दृढ़ बनने की आवश्यकता है। अपने को सुदृढ़ बनाए बिना न वह तपश्चर्या का मार्ग ग्रहण कर सकता है और न ही ज्ञान का।

मन सुदृढ़ होने पर ही विभिन्न प्रकार के कष्ट, उपसर्ग और परीषहों के समय वह स्थिर रह सकेगा। शास्त्रों में हम अनेक महान् साधकों के उदाहरण पाते हैं, जो प्राणान्तकारी उपसर्ग आने पर भी पर्वतवत् अडोल बने रहे।

साधक को भली भांति समझ लेना चाहिए कि मन की दौड़ का कोई ठिकाना नहीं है। उसकी चपलता असाधारण है। कहा भी गया है—

कबहूँ मन गगना चढ़ै, कबहूँ गिरे पताल।
कबहूँ चुपके बैठता, कबहूँ जावै चाल॥

अपनी ऐसी स्थिति के कारण ही वह आधे क्षण में सातवें नरक में तथा आधे क्षण में ही मोक्ष में भी पहुँच सकता है।

इस कथन की पुष्टि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के उदाहरण से होती है। एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को ध्यान में मग्न देखा। जब वे भगवान् के समक्ष पहुँचे तो उन्होंने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन्! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र प्रगाढ़ ध्यान में मग्न हैं। अगर इस समय वे देहत्याग करें तो किस गति में जाएँ?

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—सातवें नरक में।

श्रेणिक चकित रह गए। उन्होंने पूछा—भगवन् ! ऐसे उत्कृष्ट योगी, और ध्यानी सातवें नरक में क्यों जाएँगे ?

उत्तर में भगवान् ने कहा—अब उनके मन की भावना बदल गई है। इस समय अगर वे शरीर त्याग करें तो सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होंगे।

राजा श्रेणिक चक्कर में पड़ गए और विनम्र भाव से पूछने लगे—प्रभो ! अभी अभी तो वह सबसे निकृष्ट नरक में जाने योग्य थे और अभी-अभी सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग में जाने योग्य हो गए। क्षण भर में ही इतना महान् परिवर्तन कैसे हो गया ? इसका कारण क्या है ?

श्रेणिक यह पूछ ही रहे थे कि उसी समय देव-दुन्दुभि बज उठी। राजा ने पूछा—भगवन् ! यह देव-दुन्दुभि कहाँ और क्यों बजी ?

भगवान् ने उत्तर दिया—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि केवल ज्ञानी हो गए हैं।

श्रेणिक विस्मय से हतबुद्ध-से रह गए पर उन्हें भगवान् के वचनों पर अटूट श्रद्धा थी अतः उन्होंने पुनः निवेदन किया—प्रभो, मैं अज्ञानी हूं। आपके कथन के मर्म को समझ नहीं सका। कृपा करके मुझे विस्तारपूर्वक समझाइये।

भगवान् महावीर ने तब उन्हें बताया—ऋषि प्रसन्नचन्द्र पोतनपुर के राजा थे। उनके हृदय में वैराग्यभावना उदित हुई और वे अपने बालक को अपने कार्यकर्त्ताओं के भरोसे छोड़कर दीक्षित हो गए। उन्होंने दृढ़ भावना से संयम ग्रहण किया और उत्कट साधना आरंभ की। किन्तु तनिक-सा निमित्त पाकर उनकी भावना दूषित हो गई।

भगवान् आगे बोले—श्रेणिक ! तुम्हारी सेना के आगे-आगे दो व्यक्ति चल रहे थे। उनमें से एक ने कहा—अहा ! यह महात्मा कैसे त्यागी हैं और निश्चल ध्यान में मग्न हैं।

दूसरा व्यक्ति बोला—अरे रहने दो। इन्हें मैं अच्छी तरह से जानता हूँ। यह तो महापापी है। अपने नादान बालक को अपने कर्मचारियों के भरोसे घर छोड़कर साधु बन गए। अब वे ही कर्मचारी नीयत बिगड़ जाने के कारण उस बालक को मार डालने का षड्यंत्र रच रहे हैं। उसके मर जाने पर यह निपूते हो जाएँगे और मर कर नरक में जाएँगे।

उन मनुष्यों का वार्तालाप प्रसन्नचन्द्र के कानों में पड़ गया। सुनते ही उनकी वैराग्य-भावना बदल गई। वे सोचने लगे—दुष्ट कर्मचारी मेरे बालक को मार डालना चाहते हैं। मैं उन सब को उनकी करनी का फल चखा दूंगा।

यह सोचकर वे मन ही मन अपने शत्रुओं का संहार करने लगे। उसी समय तुमने मुझसे पूछा था कि वे इस समय शरीर त्याग कर किस गति में जाएँ? तुम उन्हें ध्यानमग्न समझ रहे थे और मैं उन्हें शत्रु-संहार में मग्न देख रहा था। उस समय उनकी मनःस्थिति सातवें नरक में जाने की हो गई थी।

उसके कुछ क्षणों के पश्चात् सहसा प्रसन्नचन्द्र का हाथ क्रोध के आवेश में अपने मस्तक पर पहुंच गया। मस्तक को केश विहीन पाते ही उन्हें एकदम सुध आ गई कि ओह! मैं तो जगत् के जंजाल से मुक्त होकर साधु बन चुका हूँ, और पूर्ण हिंसा का त्याग कर चुका हूँ। यह विचार आते ही उनके मन की भावना परिवर्तित हो गई और उच्च से उच्चतर बनती हुई चरम सीमा पर जा पहुँची।

भावनाओं में परिवर्तन होते ही मैंने तुम्हें बताया था कि वे सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग में जाने के अधिकारी बन गए हैं और उनके चरम सीमा पर पहुँचते ही केवलज्ञानी हो गए।

इस उदाहरण से मन की प्रबलता और चंचलता सहज ही समझ में आ जाती है। कहां सातवाँ नरक और कहाँ सर्वार्थसिद्ध विमान और केवलज्ञान! किन्तु मन का प्रभाव ऐसा ही अद्भुत होता है।

साधना के पथ में कष्ट सहन करना तो साधक के लिये प्रथम पग है। उसका अभ्यास करने के बाद ही साधना की जा सकती है। भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति तो एक मनुष्य दूसरों को कष्ट देकर भी कर सकता है, जैसे कि एक कारखाने का मालिक दूसरे अनेक पुरुषों को कष्ट देकर स्वयं गुलछर्रे उड़ाता है। एक मालिक नौकर से काम लेकर स्वयं आराम से जीवन बिताता है। किन्तु साधना के क्षेत्र में यह नहीं चल सकता। जिस प्रकार किसी दूसरे के खा लेने पर हमारी भूख नहीं मिटती उसी प्रकार दूसरों के साधना व तपस्या करने से हमारा कल्याण नहीं हो सकता। क्या किसी दूसरे के संयमानुष्ठान से हमारी आत्मा का कष्ट दूर होकर जन्म-मरण का चक्कर मिट सकता है? नहीं। दूसरों के साधना करने से दूसरों का ही कल्याण होगा। अपनी साधना को

सार्थक बनाने के लिये तो हमें स्वयं ही मन को साधना पड़ेगा। स्वयं ही अपनी आत्मा का अर्थात् अपना दमन करना पड़ेगा। अपना दमन करने वाले पुरुषों के भी कई प्रकार होते हैं। एक चौभंगी के द्वारा इस विषय को ठीक तरह से समझाया गया है। चौभंगी इस प्रकार है :—

'चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा— आयंदमे नामेगे नो परंदमे, परंदमे नामेगे नो आयंदमे, एगे आयंदमे वि परंदमे वि, एगे नो आयंदमे नो परंदमे।'

अर्थात् कोई पुरुष अपना दमन करता है पर का नहीं। कोई पर का करता है अपना नहीं। कोई ऐसा होता है जो अपना तथा पर का दोनों का दमन करता है और कोई ऐसा भी होता है जो न अपना दमन करता है और न पर का ही।

प्रथम श्रेणी में वह पुरुष आते हैं जो अपना दमन करते हैं दूसरों का नहीं। आत्मदमन का अर्थ है अपने मन, वचन तथा काया को अपने वश में रखना। उन्हें चंचल न होने देना तथा अपनी इच्छानुसार निर्वाध कार्य न करने देना।

सर्वप्रथम मन का निरोध करना आवश्यक है। वचन तथा शरीर तो मन के ही अनुगामी होते हैं। मन ही उन्हें प्रेरणा देता है और चलाता है। जब मन में कलुषित विचार उत्पन्न हों और वे किसी भी प्रकार के अनर्थ का कारण बनते हों तो उसी समय उस चिन्तन पर रोक लगाना चाहिये। दूसरों की समृद्धि देखकर मन में ईर्ष्या पैदा हो जाए या छोटे से झगड़े के कारण ही वैर बाँध लेने की भावना हो जाए तो उस भावना को मन से निकाल देना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी वृत्ति को प्रथम तो उत्पन्न ही न होने दिया जाय और कदाचित् हो जाए तो उसे दूसरी दशा में मोड़ लेना मन का निरोध अथवा दमन कहलाता है।

अगर मन अशुभ और अप्रशस्त भावनाओं का शिकार हो रहा हो, बुरे विचारों की दुर्गन्ध से भरा हुआ हो तो सब यम-नियम व्यर्थ हो जाते हैं। अशुभ चिन्तन के चलते रहने पर साधना कभी भी शुभ फल नहीं दे सकती। इसीलिये कहा गया है :—

जपो न मुक्तयै न तपो द्विभेदं,
न संयमो नापि दमो न मौनम्।

न साधनाद्यं पवनादिकस्य,
किं त्वेकमन्तःकरणं सुदान्तं ।।

अर्थात् न जाप जपने से मोक्ष मिल सकता है, न दो प्रकार की तपस्या करने से। न संयम से मुक्ति हो सकती है और न इन्द्रियों का दमन करने से। योग-साधना से भी मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष प्राप्त करने का असली कारण तो मनोनिग्रह ही है।

हाँ, तो मैं यह बता रहा था आपको, कि चौभंगी के अनुसार पहले प्रकार के पुरुष सर्वप्रथम अपने मन पर नियंत्रण करते हैं। दूसरों के मन पर अधिकार जमाने में वे साधना की सफलता नहीं मानते। इसके अलावा साधारण व्यवहार में भी पर-दमन नहीं करते। सज्जन मालिक नौकर-चाकरों पर अथवा मुनीम गुमाश्तों पर अनावश्यक प्रतिबंध नहीं लगाते और न ही उन्हें व्यर्थ अपने वाग्बाणों से बींधते हैं।

साधक को अपने वचनयोग पर भी नियंत्रण रखना होता है। अनावश्यक वार्तालाप साधना में अवरोध उत्पन्न करता है। स्वयं अपनी बात कहते जाना और दूसरों के बोलते ही उसको रोकने की चेष्टा करना अनुचित है। उचित यह है कि स्वयं अपने वचनों पर ही रोक लगाई जाय ताकि औरों पर प्रतिबंध लगाने की आवश्यकता ही न पड़े। वाचालता मन को गम्भीर चिन्तन नहीं करने देती। जब उसमें कटुता आ जाती है तो औरों को दुःख होता है। वेदव्यास ने कहा है—'वाणी से भी बाणवृष्टि होती है, जिसपर इसकी बौछारें पड़ती हैं, वह दिन-रात दुखी रहता है'।

मनुष्य को चाहिये कि वह अपने वचनों के द्वारा भी पर-दमन न करें। क्योंकि वचनों के साथ ही साथ चेष्टा भी उसी प्रकार कार्य करती है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'ला रोशो' का कथन है—

'There is no less eloquence in the tone of the voice, in the eyes and in the demeanour, that in the choice of word's;

अर्थात् वक्तृता केवल शब्दों के चुनाव में ही नहीं वरन् शब्दों के उच्चारण में, आँखों में तथा चेष्टा में भी होती है।

जैसा कि मैंने अभी कहा, वचनों के साथ-साथ शारीरिक चेष्टा भी

वैसी ही होती है यह हम नित्य प्रति के व्यवहार में प्रत्यक्ष देखते हैं। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य मारपीट भी करने लगते हैं। दुर्वचनों की बौछार के साथ-साथ हाथों से प्रहार होना भी शुरू हो जाता है। इसीलिये पर-दमन न करने वाला व्यक्ति अपने ही मन, वचन तथा तन पर नियंत्रण रखता है।

हाँ, कभी-कभी हित की भावना से पर-दमन करना पड़ता है। माता-पिता संतान को स्वच्छन्द हो जाने से रोकते हैं। गुरु भी अपने शिष्य को ज्ञानाराधना में प्रमाद अथवा उपेक्षा करते हुए देखकर ताड़ना देते हैं तथा अन्य प्रकार के तपश्चर्या सम्बन्धी प्रायश्चित्त करवाते हैं। बार-बार भूल करने पर उनपर कुछ और कठोर अनुशासन करते हैं।

किन्तु इन सबके मूल में माता-पिता अथवा गुरु का कोई स्वार्थ नहीं होता, क्रूर या कलुषित भाव नहीं होता, अपितु संतान तथा शिष्य का जीवन-निर्माण ही उनका लक्ष्य होता है। ऐसे दमन से अनिष्ट की संभावना नहीं होती। कर्मबंध का कारण तो कषायों के तथा स्वार्थ के वश में होकर पर-दमन करने से होता है।

दूसरे प्रकार के मनुष्य वे होते हैं जो अपना दमन नहीं करते सिर्फ पर-दमन में तत्पर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति महास्वार्थी होते हैं। पर-दमन में उनका उद्देश्य किसी का कल्याण नहीं होता वरन् अपना उल्लू सीधा करना होता है। स्वार्थी तथा कपटी व्यक्ति सरल प्रकृति के उद्योगी व्यक्तियों के श्रमफल का अपहरण करते रहते हैं।

पुराने समय में दासप्रथा पर-दमन को भयंकर रूप से प्रोत्साहन देती थी। गुलामों को अन्याय तथा अत्याचार सहते हुए सिर्फ मालिकों की सेवा करने का अधिकार था। अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए जबान खोलने का भी अधिकार उन्हें नहीं होता था। उनके स्वामी अपने को तनिक भी कष्ट दिये बिना निस्संकोच अपने दासों पर अत्याचार करते रहते थे। तभी तो आज हम एक स्वर से कहते है—

'Slavery was the system of the most complete injustice.'

गुलामी पूर्ण अन्याय की व्यवस्था थी।

यह दुनिया का सबसे बड़ा और घृणित पाप था। क्रीत-दासों को

मरणांतिक कष्ट देने से भी कोई रोक नहीं सकता था। तनिक-सी भूलपर भी मार-मार कर उनकी चमड़ी तक उधेड़ दी जाती थी। आज तो व्यवस्था बदल चुकी है। मनुष्यों में स्वाभिमान की मात्रा अपने सही रूप में पैदा हो चुकी है और इसीलिये नृशंसतापूर्वक पर-दमन करना उतना संभव नहीं रहा। फिर भी इसका अस्तित्व मिट नहीं गया है और आए दिन हम देखते हैं कि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये नाना प्रकार से दूसरों को कष्ट देते हैं, वध तक कर डालते हैं, और अपने को तनिक भी कष्ट न हो, ऐसा प्रयास करते हैं। जो व्यक्ति अपना दमन नहीं करते और सदा दूसरों के दमन में तत्पर रहते हैं उनके लिये भगवान् का कथन है कि उन्हें पशु बनकर और पराधीन होकर दमन सहना पड़ेगा।

तीसरी श्रेणी के पुरुष वे हैं --जो अपना भी दमन करते हैं और पर का भी। जैसा कि मैंने अभी बताया था, गुरु शिष्य के हित-चिन्तन की दृष्टि से शिष्य को नियंत्रण में रखते हैं। अवसर होने पर ताड़ना देते हैं व दंड भी देते हैं पर साथ ही उन्हें अपना भी दमन करना होता है। अपने को अंकुश में रखे बिना शिष्य पर अनुशासन कदापि नहीं रह सकता। माता-पिता अगर स्वयं स्वच्छंद रहें और सन्तान पर अंकुश रखना चाहें तो उन्हें सफलता मिलना असंभव है। किसी को ज्ञानवान् बनाने के लिये प्रथम स्वयं को ज्ञान प्राप्त करना जितना आवश्यक है, उतना ही औरों को त्यागी बनाने से पहले स्वयं त्याग करने की आवश्यकता है। उपदेश देनेवाले को पहले आदर्श उपस्थित करना चाहिये। ऐसा करनेवाला व्यक्ति ही आत्म-दमन में तथा पर-दमन में भी सफल हो सकता है।

बंधुओ ! आपको यह समझना है कि आत्म-दमन तथा पर-दमन सही उद्देश्य के लिये, और सही तरीके से किया जाए तो कर्म-नाश में सहायक बनता है और गलत उद्देश्य के लिये, गलत तरीके से करने पर कर्म-बंध का कारण। क्रोधावेश में दूसरे का सिर फोड़कर फिर अपने मस्तक को धुनना या दूसरे का वध करके स्वयं भी मर जाना महापातक है और जन्म-मरण के चक्करों में वृद्धि करने वाला है। ऐसे व्यक्ति अपना और दूसरों का दमन करके भी किसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते, न ही अपना या दूसरों का भला कर सकते हैं।

चौथे प्रकार के मनुष्य न अपना दमन करते हैं और न पर का। जो स्वयं सदा स्वच्छंद जीवन बिताते हैं वे दूसरों के जीवन को कैसे सुसंस्कृत बना

सकते हैं। उनका अपना जीवन ही प्रमाद और असंयम में बीतता है और जब वह समाप्त होने को होता है तब पश्चात्ताप ही हाथ आता है। उस समय उन्हें कोई सबल नहीं मिलता जिसे ग्रहण करके वे अपनी जीवन भर की गई भूलों को सुधार सकें। ऐसे मनुष्यों को सावधान करने के लिये कवि ने कहा है—

पायो है मनुष्य-देह अवसर बीत्यो जात,
ऐसी देह बार बार कहो कहाँ पाइये।
भूलत है बावरे ! तू अब कै सियानो होय,
रतन अमोल यह काहे को ठगाइये॥

कितने सही उद्‌गार हैं ! कौन जानता है कि आगामी भव मनुष्य का भव ही होगा। खास तौर पर उनका जो इस जीवन को असंस्कृत, स्वच्छंद तथा विषय-वासनाओं में लिप्त होकर गुजारते हैं। अधिकांश व्यक्ति सोचते हैं कि अभी यौवन-अवस्था में संसार के सुख भोग लें और वृद्धावस्था में परलोक के लिये पोटली बाँध लेंगे और वृद्धावस्था में भी अवसर न मिल पाया तो अन्त समय को सुधार कर अच्छी गति प्राप्त कर लेंगे।

यह मनुष्य की कितनी भयंकर भूल है। अन्त समय में परलोक सुधार लेंगे, इस भ्रममय धारणा से प्रेरित मनुष्य अपने इस जीवन को भी और उस जीवन को भी बिगाड़ लेता है। उसकी मिथ्या धारणाएँ उसे भयानक धोखा देती हैं।

सत्य तो यह है कि जीवन के अन्तिम क्षणों में वैसी ही भावनाएँ उत्पन्न होती हैं जैसी गति में उसे जाना होता है। जिस जीव ने अपने जीवन-काल में नरकायु का बन्ध कर लिया है, वह लाख प्रयत्न करने पर नरक जाने से नहीं बच सकता। भगवान् महावीर के द्वारा जब श्रेणिक राजा को पता चला कि वह नरकायु का बंध कर चुके हैं तो उन्होंने उसे मिटाने के अनेक प्रयत्न किये पर सफ़ल नहीं हो सके। अंत में उन्हें नरक में जाना ही पड़ा।

कहने का अभिप्राय यही है कि अन्त समय में वैसी ही मति हो जाती है जैसा आयु कर्म जीवन में बंध चुका होता है। इसलिये अन्त समय के भरोसे में मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन अनियन्त्रित और विषय-भोगों में रत रहकर नहीं बिताना चाहिये। इसके विपरीत, अपना जीवन मन पर नियंत्रण

रखते हुए तथा इन्द्रियों का दमन करते हुए सत्कार्य में विताना चाहिये। की हुई साधना तथा सुकर्म ही आगामी भव में फल देते हैं। कहा भी है—

"A good action is never lost; it is a treasure laid up and guarded for the doer's need."

—कालरेज

अर्थात् सुकर्म कभी नष्ट नहीं होता; यह निधि कर्त्ता की आवश्यकता के लिये सुरक्षित रखी रहती है।

कहने का तात्पर्य यही है कि अनेक व्यक्ति अपना जीवन अपने मन व इन्द्रियों का दमन किये बिना विताते हैं। वे न अपने लिये कुछ कर सकते हैं और न दूसरों के लिये। न वे आत्म-दमन कर सकते हैं और न ही पर-दमन। किन्तु जब वे अपने मन को ही वश में नहीं रख सकेंगे तो औरों को मन पर नियंत्रण रखने का उपदेश कैसे देंगे? और देने पर उनकी बात मानेगा भी कौन? परिणाम यही होगा कि जीवन के अमूल्य क्षण बीत जाएँगे और जीव चौरासी के चक्कर में घूमता रहेगा।

सच्चे साधक के लिये आत्म-दमन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। अब हम 'दमन' शब्द पर कुछ विस्तृत विचार करेंगे। दमन तीन प्रकार से होता है। (१) शम, (२) दम तथा (३) उपशम।

शम का अर्थ है कषायों का शमन करना। सबको समभाव से देखना। जिसके हृदय में कषायों की आग शांत हो जाती है वह शत्रु व मित्र दोनों को ही समान दृष्टि से देखता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम अपनी दोनों आँखों पर एक-सा भाव रखते हैं। कभी भी हमारे हृदय में यह भावना नहीं आती कि हम सुरमा या काजल एक आँख में लगा लें, दूसरी में नहीं, या एक आँख में अधिक लगा लें और दूसरी में कम।

साधक के जीवन में जब समभाव आ जाता है, तभी उसकी साधना सही मार्ग पर चलती है, ऐसा मानना चाहिये। साम्यभाव को अपनाने वाले व्यक्ति के लिये समग्र विश्व के प्राणी मित्र होते हैं। अर्थात् वह सभी को अपना मित्र मानता है।

कुछ समय पहले भारतीय संसद् के सदस्य डी० सी० शर्मा रूस गए। अनेक पत्रकार उनके पास आए और पूछने लगे—शर्मा साहब, आपको क्या

रूसी लोग पसंद हैं ?

शर्माजी ने उत्तर दिया—नहीं। फिर पूछा गया—तो अमरीकन पसंद हैं ? उत्तर में उन्होंने फिर कहा—नहीं।

पत्रकारों ने अंग्रेज, पाकिस्तानी तथा चीनी सभी के लिये पूछ लिया किन्तु शर्माजी ने उत्तर नकारात्मक ही दिया। अंत में उनसे यह पूछा गया—तो आप किनको पसंद करते हैं ? शर्माजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—मित्रों को। चाहे वह रूसी हों, अमेरिकन हों, चीनी हों या पाकिस्तानी हों।

हमारा सिद्धांत यही तो कहता है—मित्ती मे सव्व भूएसु, यानी संसार के समस्त प्राणियों से मेरा मैत्रीभाव रहे। 'युगवीरजी' की कितनी सुन्दर भावना है--

साम्यभाव रक्खूं मैं सब पर,
ऐसी परिणति हो जावे।

शम अर्थात् सम-भाव के पश्चात् हम 'दम' को लेते हैं। प्रश्न उठता है दमन किसका करना चाहिये ? भगवान् महावीर ने कहा है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १-१५

अर्थात् दमन करना है तो अपनी आत्मा का दमन करो। आत्मा का दमन करनेवाला व्यक्ति इस लोक तथा परलोक दोनों में सुखी रहता है।

आत्मा का दमन संयम तथा तप के द्वारा करना चाहिये। मन को आकर्षित करनेवाली संसार में अनेकानेक वस्तुएँ हैं पर उनकी ओर आकर्षित न होना तथा इन्द्रियों को अपनी इच्छानुसार न करने देना ही संयम है। अनासक्त व्यक्ति के सामने संसार का समस्त वैभव आ जाए तो भी वह उनकी ओर आकर्षित नहीं होता। एक कथानक है—

वैष्णव सम्प्रदाय में रांका तथा वांका नाम की दो संत-आत्माएं थीं। दोनों पति-पत्नी थे, वे रोज जंगल में जाकर लकड़ियां काटते और उन्हें वेचकर अपना निर्वाह करते थे।

कहते हैं कि एक बार विष्णु और लक्ष्मी उधर से निकले। वृद्ध दंपती

को लकड़ियाँ काटते देखकर लक्ष्मी बोलीं—भगवान् ! आपके राज्य में इतना अंधेर है ? इतने वृद्ध होने पर भी लकड़ियाँ काट रहे हैं। इन्हें सुखी करिये।

विष्णु ने कहा—देवी ! इनके लिये कुछ भी किया जाय, ये कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

किन्तु लक्ष्मी मानीं नहीं, जिद कर बैठी। हारकर विष्णु ने कहा—ठीक है, प्रयत्न करता हूँ।

विष्णु ने रांका तथा बांका के जंगल से लौटते समय ग्यारह मोहरें रास्ते में डाल दीं। रांका आगे-आगे चल रहा था। उसने मोहरें देखीं पर उन्हें उठाने की तो क्या छूने की भी इच्छा नहीं की। उल्टे थोड़ी-सी रेत उन मोहरों पर डाल दी। यह सोचकर कि बांका स्त्री ठहरी, शायद उसके मन में प्रलोभन आ जाए। और वह उठा ले।

पीछे-पीछे बांका भी आई। पति को मोहरों पर रेत डालकर जाते हुए देखकर बोली—वाह ! इतने वर्ष हमें संयम का पालन करते हो गए, फिर भी आपने आज रेत को रेत से ढँका है। इसका तो यह मतलब हुआ कि आप अभी तक सोने को सोना ही समझते हैं। अन्यथा इस पर रेत डालने की क्या आवश्यकता थी।

रांका अपनी भूल महसूस करता हुआ तथा पत्नी के मनोभावों पर गर्व करता हुआ घर की ओर चलने लगा।

दूसरे दिन फिर लक्ष्मी के आग्रह से विष्णु ने वृद्ध दम्पती के कष्ट को कम करने के लिये जंगल में कटी हुई लकड़ियों के कई ढेर लगा दिये।

धीरे-धीरे रांका व बांका उधर पहुँचे। उन्होंने कटी हुई लकड़ियाँ देखीं किन्तु उन्हें उठाया नहीं और स्वयं ही लकड़ियाँ काटने का उपक्रम करने लगे। उन्होंने सोचा—ये लकड़ियाँ बिचारे किसी गरीब ने काटकर इकट्ठी की होंगी। अतः हम क्यों उसके परिश्रम से पैदा की हुई चीज को लें।

यह देखकर विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—देखो, इन्होंने न तो धन की वांछा की और न ही किसी दूसरे के परिश्रम पर डाका डाला। कितना दृढ़ मन है इनका और अपनी इन्द्रियों पर अंकुश भी। कितने आनन्दी प्राणी हैं ये। इसे कहते हैं मन और इन्द्रियों का दमन करना।

दमन का तीसरा अंग है उपशम—अर्थात् शांतवृत्ति रखना। संसार में रहते हुए अनेकानेक जटिल तथा अवांछनीय परिस्थियों का सामना करना पड़ता है। अनेक प्रकार के संघर्षों से जूझना होता है। फिर भी अपना कर्त्तव्य समझकर कार्य करना और चित्त को शांत रखना ही उपशम भाव है। चित्त को शांत रखने पर ही मनुष्य कषायों के स्वरूप, स्वभाव तथा परिणाम को समझ सकता है तथा क्षमा भाव धारण कर सकता है।

हृदय में उपशम भाव रखने वाला व्यक्ति स्वयं अपने लिये, परिवार के लिये, पड़ौसियों के लिये, समाज के लिये तथा देश के लिये भी कभी अशांति का कारण नहीं बन सकता।

शान्ति मानव जीवन का चरम उद्देश्य है संसार के जितने धर्म-कर्म हम करते हैं, उन सबके पीछे यही लालसा रहती है कि हम शांतिपूर्वक जीवन बिताएँ। शांत वृत्ति की परीक्षा भी संसार के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करते हुए होती है, जंगल में जाकर एकाकी जीवन बिताते हुए नहीं। गांधीजी ने कहा है—

'मनुष्य की शांति की कसौटी समाज में ही हो सकती है, हिमालय के शिखर पर नहीं।"

जो मनुष्य अपनी सारी इच्छाओं का त्याग कर देता है एवं 'मैं' और मेरेपन के भाव से मुक्त हो जाता है वही शान्ति प्राप्त करना है। और जब अपने भीतर ही शांति का प्रादुर्भाव हो जाता है तो सारा संसार शान्तिमय प्रतीत होता है। तुलसीदासजी ने तो कहा है—

सात द्वीप नव खंड लौं, तीनि लोक जग मांहि।
तुलसी शांति समान सुख, और दूसरो नांहि॥

शान्ति मनुष्य की सुखद तथा स्वाभाविक स्थिति है 'Peace is happy, natural state of man; war his corruption his disgrace."

—टामसन

'अर्थात् शांति ही मनुष्य की सुखप्रद तथा स्वाभाविक दशा है, युद्ध उसका पतन और कलंक है।

भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये आज गृह-कलह और बड़े-बड़े युद्ध

भी होते हैं। किन्तु उन सत्ता, साम्राज्य और सम्पत्ति के लोभियों को कभी शांति व संतोप नसीब नहीं होता। दूसरों के धन से ईर्ष्या तथा अपने धन से अतृप्ति यह दोनों ही शान्ति के विरोधी हैं। एक दार्शनिक ने कहा है—

"विषयों का सुख तथा आत्मा की शान्ति इन दोनों में से किसी एक को हमें चुनना है। अगर संसार में रहकर आत्मिक शांति प्राप्त करनी है, अगर दिव्य जीवन तक पहुँचाना है, अगर मृत्यु के इस संसार से मुक्त होना है—तो भौतिक जीवन के फलों को नहीं चखना चाहिये।

—शिलर

कहने का अभिप्राय, बंधुओ ! यही है कि आत्म-दमन करने से, अर्थात् मन, वचन तथा तन तीनों को वश में रखने से शांति प्राप्त होती है और चित्त में शांति होने पर गम्भीर चिन्तन, मनन साधना तथा तपस्या आदि निर्विघ्न किये जा सकते हैं। सच्चे साधक शम, दम तथा उपशम के द्वारा अपनी चित्त-वृत्ति को शांत व शुद्ध बनाते हैं।

जो पुरुष मन पर नियंत्रण नहीं करते और इन्द्रियों को इच्छानुसार अपने विषयों की ओर जाने देते हैं, जो कुकर्म और सुकर्म में भिन्नता नहीं कर पाते तथा कषायों पर रोक नहीं लगा सकते, उन्हें अपने अंत-समय में पश्चात्ताप करना पड़ता है। वे अपनी आत्मा का कदापि कल्याण नहीं कर पाते।

इसके विपरीत, जो पुरुष समस्त सांसारिक वस्तुओं की तथा अपने शरीर की भी नश्वरता को स्मरण रखते हैं और सोचते हैं—

जीवन तन मन भवन न रहिहैं, स्वजन प्रान छूटेंगे।
दुनिया के सम्बन्ध विदाई की बेला टूटेंगे॥

वे ही व्यक्ति आत्मिक आनन्द को प्राप्त करते हुए इस मानव-जीवन को सार्थक कर सकते हैं और जन्म-मरण के दुखों से छूटकर शाश्वत सुख के अधिकारी बनते हैं। उनका आत्म-दमन उनकी आत्मा को परमात्मा बना देता है।

[११]

मुक्ति का मूल-गर्हा

मोक्षाभिलाषी साधक अपने साधना-पथ पर तभी निर्विघ्न बढ़ सकता है जब वह अपनी दुर्बलताओं, दुर्वृत्तियों, दुर्विचारों तथा दुराचारों के प्रति सजग रहे। इनके प्रति निंदा का भाव उसके हृदय में बना रहे और वह पापों से ऊपर उठने का प्रयत्न करता रहे।

यह संभव नहीं है कि साधक साधना के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलता रहे और उससे कहीं भी तथा कभी भी त्रुटियां न हों। चाहे पंचमहाव्रतधारी साधु हो, या श्रावक हो; सामान्य गृहस्थ हो या उससे भी निम्न श्रेणी का व्यक्ति हो, जब तक आत्मा में मोह तथा कषाय विद्यमान होते हैं, प्रायः प्रत्येक मनुष्य भूल कर ही बैठता है। मन की चपलता के कारण न चाहते हुए भी प्राणी मन से, वचन से अथवा तन से गिर जाता है।

साधक के द्वारा भूलों का होना उसके एकान्ततः पतन का चिह्न नहीं है। सच्चे साधक को एक भूल हो जाने का दुख भविष्य में भूलें न होने देने के लिये कटिबद्ध बनाता है। यहां तक कहा गया है कि:—

'No man ever become great or good except through many mistakes.'

—ग्लेडस्टन

अर्थात् बहुत-सी तथा बड़ी-बड़ी गलतियां किये बिना कोई मनुष्य बड़ा और महान् नहीं बन सकता।

तात्पर्य यही है कि भूल हो जाना पाप नहीं है। वास्तव में पाप तो भूल करना एवं उसे छिपाने का यत्न करना है। अगर कोई व्यक्ति अपनी गलती को समझकर भी उसका प्रतीकार करना नहीं चाहता या उसकी उपेक्षा करता है तो समझना चाहिये कि वह साधना-पथ से विचलित हो रहा है।

प्रत्येक साधक को अपने पापों के प्रति गर्हा का भाव रखना चाहिये।

स्थानांग सूत्र में गर्हा को लेकर एक चौभंगी का निर्माण किया गया है। उसमें बताया गया है कि जो भी व्यक्ति अपने पापों को बुरा समझेगा वह शनैः-शनैः अवश्य ही पापों से दूर होता जाएगा।

प्रश्न उठता है कि गर्हा क्या है ? गर्हा का अर्थ है पूर्ण निष्कपट-भाव से शिशु की तरह अपने पापों को और कुकृत्यों को गुरु के सन्मुख प्रकाशित कर देना। अगर ऐसा न किया जाए और उन्हें छिपाने का प्रयत्न किया जाए तो आत्मा दूषित हो जाती है और साधना सिर्फ दिखावा मात्र ही रह जाती है। भगवान् महावीर ने आलोचना को आत्मसुधार के लिये अत्यन्त कल्याणकारी बताया है—

कयपावो हि मणुस्सो, आलोइयं निन्दियं गुरु सगासे।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो॥

—समाधिमरण प्रकीर्णक, १०२

अर्थात् जैसे भार वहन करने वाला अपना भार उतारकर अत्यन्त हलकापन महसूस करता है, इसी प्रकार साधक पुरुष भी गुरु के समक्ष अपने दुष्ट कृत्यों की आलोचना एवं निन्दा करके पाप से हलका हो जाता है।

कुछ व्यक्ति सोचते हैं कि विगत के लिये पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं। इतना ही नहीं, उनके मतानुसार तो पश्चात्ताप करना अपनी आत्मा को गिराना है। कितने अज्ञानी हैं ऐसे व्यक्ति ? ऐसा वही व्यक्ति कहते हैं जिनकी दृष्टि दूषित होती है, और जिनके सामने कोई महान् लक्ष्य नहीं होता और जिन्हें आत्मशुद्धि की महत्ता का ज्ञान नहीं होता।

पाश्चात्ताप तो हृदय में प्रज्वलित की गई वह ज्वाला है जिसमें कृत पाप भस्म हो जाते हैं। एक विद्वान् ने कहा है—

'Confess thy guilts and sins, thus shalt thou get light.'

अर्थात् अपने दोषों और पापों को प्रकट करो, इससे तुम्हें प्रकाश की प्राप्ति होगी।

जीवन के अन्त में घोर तथा निरर्थक पश्चात्ताप न करना पड़े, इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य अपने कृत अपराधों के लिये उसी समय पश्चात्ताप कर ले और संकल्प कर ले कि आगे से मैं इसकी पुनरावृत्ति नहीं करूँगा।

पापों को हृदय में दबाए रखने का प्रयास करना बड़ा भारी दोष है। इससे साधना दूषित हो जाती है। दुष्प्रवृत्तियां शरीर में संचित विकार के समान होती हैं। विकारों को शरीर से बाहर न निकाला जाए तो वे धीरे-धीरे शरीर को रुग्ण व निस्तेज बना देते हैं। उसी प्रकार अगर पाप-वृत्तियों को पश्चात्ताप के द्वारा बाहर न निकाला जाए तो आत्मा की पवित्रता कलुषित हो जाती है और साधना के समाप्त होने की नौबत आ जाती है। संयम खतरे में पड़ जाता है। जिस प्रकार अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी सारे नगर को भस्म कर देती है उसी प्रकार एक छोटी-सी गलती धीरे-धीरे संयमी जीवन को भी खत्म कर सकती है। फिर अन्त समय में मनुष्य यह कहने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता—

तुहमतें चन्द अपने जिम्मे धर चले।
किसलिये आए थे हम क्या कर चले॥

तो अन्त में पश्चात्ताप करना पड़े और उस समय कुछ भी न किया जा सके उससे अच्छा तो यही है कि जिस समय दोषों की शुरुआत हो उसी समय उसके लिये पश्चात्ताप करके हृदय को निर्मल कर लिया जाए और फिर हलके मन से अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास आरम्भ किया जाए। स्थानांग सूत्र में गर्हा चार प्रकार की बताई गई है। सूत्र इस प्रकार है:—

'चउव्विहा गरिहा पण्णत्ता, तंजहा—उवसंपज्जामित्तेगा गरिहा, वितिगिच्छामित्तेगा गरिहा, जंकिंचिमच्छा-मित्तेगा गरिहा एवंपि पन्नत्तेगा गरिहा।'

सूत्र का विस्तृत विवेचन करने से पहले हमें यह जानना आवश्यक है कि निंदा व गर्हा में क्या अन्तर है? यद्यपि बोल-चाल की भाषा में दोनों एक ही अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। दोनों ही पापों की बुराइयां प्रदर्शित करते हैं किन्तु तनिक सूक्ष्मता से देखा जाए तो उनका अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

निन्दा शब्द का प्रयोग अव्रतधारी मनुष्यों के लिये किया जाता है और दूसरों की बुराइयों को बताने के लिये प्रयुक्त होता हैं। गर्हा शब्द शास्त्रीय भाषा में व्रतधारियों के लिये आता है। व्रतधारी साधक के ग्रहण किये हुए व्रतों में कोई दोष लग जाय तो उसकी आलोचना करना तथा उसके लिये पश्चात्ताप करना गर्हा कहलाता है। आप सामायिक व्रत ग्रहण करते समय उच्चारण करते हैं—निंदामि, गरिहामि...आदि-आदि।

तो निंदा पर की तथा अपनी भी की जाती है किन्तु गुरु की साक्षी में जो अपनी आत्मा की निंदा की जाती है वह गर्हा कहलाती है।

'तत्र गुरुसाक्षिकाऽत्मनो निंदा गर्हा।'

ग्रहण किये हुए व्रतों में दोष अनेक प्रकार से लगते रहते हैं। साधना-मार्ग का अवलम्वन करने के पश्चात् भी कोई साधक प्रमाद के कारण, कोई रोग की स्थिति में भूल कर बैठता है। कठिन बीमारी से भयाक्रांत होकर साधक त्यागी हुई वस्तु का सेवन कर लेता है और अकल्पनीय वस्तु को भी ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यही है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी दोषों की प्रतिसेवना हो जाना संभव है और वह जानबूझ कर अथवा अनजाने में भी होती रहती है। किन्तु सच्चा साधक दोष लगने पर उन्हें छिपाता नहीं और अविलम्ब अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होकर उन्हें प्रकाशित करता है और उसके लिये पश्चात्ताप करता है। इस उपक्रम को ही चार श्रेणियों में विभाजित करके चौभंगी में बताया गया है।

जब कि किसी संयमी से कोई भूल हो जाती है और भूल होते ही वह विचार करता है—मुझसे अमुक गलती हो गई है और गुरु महाराज के समक्ष पहुँचकर मैं इसे उनके सामने प्रकट करूँ, प्रायश्चित्त ग्रहण करूँ और तब पुनः अपनी चर्या आरम्भ करूँ यह प्रथम प्रकार की गर्हा है।

शंकाशील व्यक्ति प्रश्न कर सकते हैं कि जब शिष्य गुरु के सन्मुख पहुँचा नहीं और उनके समक्ष अपने दोष को प्रदर्शित किया नहीं तो सिर्फ विचार मात्र से ही गर्हा कैसे मानी गई ? उत्तर बड़ा सरल और स्पष्ट है कि साधक यद्यपि गुरु के समक्ष पहुँच कर गर्हा नहीं कर सका किन्तु उसके हृदय में गर्हा करने की भावना उत्पन्न हो गई। वह अपने दोष को छिपाना नहीं चाहता और गुरु के समक्ष पहुँचकर उसकी आलोचना करना चाहता है। अतएव यह भावना ही प्राथमिक गर्हा का सही लक्षण है।

भावना का महत्त्व वचन तथा तन की क्रिया से भी अधिक है। कोई व्यक्ति शरीर से किसी का वध न कर सके किन्तु अगर मन में उसका वध करने की भावना बना ले तो वह वध के पाप का भागी हो जाता है। कहा भी गया है

"परिणामो बन्धो परिणामो मोक्षः।"

हिंगुल-प्रकरण

अर्थात्-कुत्सित विचारों के कारण से तो कर्मों का बंध होता है और शुद्ध विचारों के कारण कर्मों से मुक्ति मिलती है।

एक कहावत है—'Fancy may kill or cure.' यानी भावना मार भी सकती है तथा जिला भी सकती है। यह बिलकुल सत्य है क्योंकि—

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।"

जिसकी जैसी भावना होती है, उसको उसके अनुरूप ही सिद्धि मिलती है।

भगवती सूत्र में भावना का महत्व समझाते हुए बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण भगवान् के द्वारा किया गया है, यथा—

एक साधु आहारादि के निमित्त बाहर जाता है। वहाँ किसी कारण-वश उसे भिक्षा के दोषों में से कोई दोष लग जाता है, या किसी प्रकार की और कोई भूल हो जाती है। किन्तु उसी समय उसे पश्चात्ताप होता है और वह अपने को धिक्कारते हुए निश्चय करता है कि मैं गुरु जी के निकट पहुँचते ही अपनी भूल को प्रकट करके प्रायश्चित्त करूँगा। यह विचार कर वह अपने स्थान के लिये रवाना हो जाता है पर संयोगवशात् मार्ग में ही वह काल-कवलित हो जाता है।

ऐसे साधक के लिये गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्, वह साधु आरा-धक माना जाएगा या विराधक?

भगवान् उत्तर देते हैं—वह साधु विराधक नहीं अपितु आराधक है।

ऐसा क्यों माना गया? यद्यपि साधु ने अपने अपराध को प्रकट नहीं किया, गुरु के समक्ष आलोचना नहीं की, फिर भी उसके हृदय में अपनी गलती के लिये पश्चात्ताप की भावना आ गई। अपनी भूल को उसने गर्हित मान लिया। उसके मन में अपने पाप को छिपाने की भावना नहीं आई वरन शुद्ध हृदय से गुरु के समक्ष प्रकट कर देने का संकल्प पैदा हो गया। इसमें आंतरिक शुद्धि उसकी हो गई।

दूसरे प्रकार की गर्हा वह कहलाती है जब साधक भूल हो जाने पर विचार करता है कि मैंने जिन दोषों का सेवन किया है उसका विविध प्रकार

से निराकरण करूं। आशय यह है कि जब साधक अपने दोषों को दोष मानता है और उनके निराकरण तथा आलोचना का संकल्प कर लेता है तो उसकी गर्हा का दूसरा रूप बन जाता है।

कोई भी साधक अपने दोषों को दोष तभी मानता है जब कि उसके हृदय में जिन-प्ररूपित वचनों पर पूर्ण तथा अविचलित श्रद्धा होती है। ऐसा न होने पर साधक की साधना फलवती नहीं हो सकती, और शुद्ध नहीं रह सकती। विश्वास के बिना की जाने वाली साधना में होने वाली भूलों के लिये भी साधक के हृदय में पश्चात्ताप की सच्ची भावना पैदा नहीं हो पाती। और शंकाशील बने रहने के कारण साधना में चित्त स्थिर नहीं रह सकता और उसमें वृद्धि भी नहीं हो पाती।

हम किसी कार्यवश अमुक गाँव को जाना चाहते हैं और रवाना हो जाते हैं। किन्तु जिस मार्ग से चल रहे हैं उसके विषय में पूर्ण विश्वास नहीं होता कि इस मार्ग से जाने पर उस गाँव में पहुंच ही जाएंगे। परिणाम यह होता है कि प्रथम तो हृदय में शंका बनी रहती है कि कौन जाने उस गाँव को जाने वाला यही मार्ग है या नहीं ? दूसरे शंकाशील मन के कारण मार्ग पर कदम तेजी से नहीं बढ़ते। तीसरे ऐसी यात्रा में आनन्द भी नहीं आता।

साधना का मार्ग भी ठीक इसी प्रकार का है। उसके द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति में संदेह होने पर न तो साधक पूर्ण मनोभाव से अग्रसर हो सकता है और न ही उसे साधना में रस आता है। ऐसी स्थिति में साधना में होने वाली भूलों के लिए उसके हृदय में सच्ची पश्चात्ताप की भावना कैसे आ सकती है !

जहाँ शंका और संदेह होते हैं, बुद्धि भी अपना कार्य करना छोड़ देती है। और सफलता की जगह निराशा हाथ आती है—Doubt is brother devil to despair' संदेह नैराश्य का भ्राता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि साधक निश्चयपूर्वक अपने दोषों को दोष समझे तथा दृढ़ संकल्प कर ले कि इन दोषों के लिये मुझे कितना भी प्रायश्चित्त क्यों न करना पड़े, करना ही चाहिये। तभी उसका प्रायश्चित्त सच्चा होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे रोगों से पीछा छुड़ाने के लिये विवेकशील रोगी कड़वी से कड़वी दवा खाने के लिये भी कटिबद्ध रहता है।

तीसरी प्रकार की गर्हा 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहने से होती है। भूलों

के लिये मानसिक पश्चात्ताप तो होता ही है पर साथ ही वचन के द्वारा भी पश्चात्ताप प्रकट करना आवश्यक होता है। वचन ही मन का दर्पण होते हैं। मन में जैसे भाव आएं वैसा उच्चारण होना स्वाभाविक है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति मन में कुछ और रखते हैं तथा वचन से कुछ और बोलते हैं उनका मन कभी पवित्र नहीं रह सकता। कपटी पुरुषों का वाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। किन्तु उनके दुःखद परिणाम जब उन्हें भोगने पड़ते हैं, तब वे सचेत होकर अपने कपटाचरण पर पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं—

शखसम वचश्मे आलिमियां खूब मनजरस्त।
वज़ खुब से बातनम सरे खिलअत फगन्दाह पेश।।

अर्थात् मेरे बाहरी ठाठ से लोग मुझे भला समझते रहे, परन्तु आन्तरिक नीचता के कारण मेरा सिर शर्म से झुका हुआ है।

कपटी मनुष्य की आत्मा अपने आपको धिक्कारती रहती है और तब उसका जीवन आह्लादमय नहीं बनता। इसी प्रकार मन में अपनी भूल के लिये पश्चात्ताप न होने पर 'मिच्छा मि दुक्कडं' का कोई महत्त्व नहीं रहता और साधक भविष्य में भूलों से बच नहीं सकता।

चौथे प्रकार की गर्हा वह कहलाती है जब संयमी अपनी भूलों के लिये भगवान् के बनाए हुए विधान के अनुसार पश्चात्ताप तथा आलोचना करता है। जिन प्ररूपित वचनों को समझते हुए तथा उनपर श्रद्धा करते हुए वह अपनी आत्मा को निर्मल बनाता है।

अपनी बड़ी भारी भूल का इच्छानुसार थोड़ा सा प्रायश्चित कर लेना अथवा भूल किसी और प्रकार की हो और प्रायश्चित्त किसी और प्रकार का, तो वह भूल को ठीक करने का सही मार्ग नहीं माना जा सकता। रोगी को बुखार आ जाने पर बुखार की ही दवा लेनी पड़ेगी। उसके लिये अगर कोई पेट दर्द की दवा ले ले तो क्या वह ज्वर से मुक्ति पा सकेगा? नहीं। ज्वर के लिये निर्मित औषधि ही उसके ज्वर को मिटा सकेगी। इसी प्रकार अगर मानसिक दोष होने पर साधक प्रायश्चित्त स्वरूप मौन करके बैठा रहे तो क्या उसके मानसिक विकार दूर हो जाएंगे? मानसिक अपराधों को मिटाने के लिये उसे अपने चिन्तन के उपक्रम को बदलना होगा, उसमें पवि-

त्रता लानी होगी।

तो इस प्रकार की गर्हा के लिये साधक को अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होकर जिन भगवान् ने जो विधान किया है उसके अनुसार अपने पापों के लिये प्रायश्चित्त लेना चाहिये। कहा भी है—

जइ सुकुसलो वि विज्जो,
अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
तं तह आलोयव्वं,
सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं ॥

अर्थात् जैसे कुशल वैद्य भी अपने रोग को दूसरे वैद्य के सामने प्रकट करता है, इसी प्रकार प्रायश्चित्त-विधि में निपुण साधक को भी अपने दोषों की आलोचना दूसरे योग्य व्यक्ति के सन्मुख ही करनी चाहिये।

भगवान् महावीर के इस आदेश का जो साधक पालन करेगा वही अपनी आत्मा को पश्चात्ताप की अग्नि में निर्मल बनाकर कुन्दन की तरह चमका सकेगा, अन्यथा कितने भी शास्त्र पढ़ लिये जाएं, कैसी भी कठोर तपस्या की जाय पर भव-सागर को पार करना संभव नहीं होगा।

कषायों के कारण आत्मा भारी होती जाती है और उस दशा में भव-सागर पार करना असंभव हो जाता है। मध्य में ही डूबने की नौबत आ जाती है। उस समय ज्ञान की गठरी कोई लाभ नहीं पहुंचाती। किन्तु विकारों से बोझिल हो रही आत्मा को पश्चात्ताप तथा आलोचना द्वारा पुनः पुनः निर्मल तथा हलकी बनाई जा सकती है और सरलतापूर्वक इस भवसागर को तैरा जा सकता है।

तात्पर्य यही है कि आलोचना तथा पापों के प्रति गर्हा ही भवसागर को तैरने की वास्तविक कला है। उसे जाने बिना साधना के विविध अंग भी हमारे उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते।

एक प्रोफेसर नदी पार करने के लिए नाव में बैठे जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने नाविक से पूछ लिया – क्यों भाई, नक्षत्रविद्या जानते हो?

नाव चलाते हुए नाविक ने उत्तर दिया—बाबूजी! मैं तो नक्षत्रों के नाम भी नहीं जानता।

प्रोफेसर साहब हंस कर बोले—तब तो समझ लो कि तुम्हारा चौथाई जीवन पानी में चला गया।

थोड़ी सी देर बाद फिर उन्होंने पूछा—क्या तुम थोड़ा-बहुत गणित पढ़े हो ?

नाविक दुखी होता हुआ बोला—मैंने कुछ नहीं पढ़ा बाबूजी !

प्रोफेसर सिर हिलाते हुए बोले—ओह ! तब तुम्हारा आधा जीवन पानी में चला गया समझो।

नाव पर अन्य कुछ काम तो था नहीं, प्रोफेसर साहब फिर पूछ बैठे—क्या तुम वनस्पतिविज्ञान के जानकार हो ?

नाविक हँस पड़ा—नहीं बाबूजी, मैं तो केवल यही जानता हूँ कि नाव कैसे चलाई जाती है।

ठहाका मारकर प्रोफेसर साहब बोले—अरे ! तब तो तुम्हारे जीवन का तीन चौथाई भाग पानी में गया।

इस वार्तालाप के कुछ समय बाद ही अचानक आँधी चल पड़ी और नदी में बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगीं। नाव डगमगाने लगी, धीरे-धीरे उसमें पानी भर चला। मल्लाह ने पानी उलीचने का प्रयत्न किया किन्तु हिलोरों के कारण वह बार-बार भर जाता था। नाविक थक गया, और नाव को संकटग्रस्त देख पानी में कूदकर तैरने लगा। तैरते-तैरते उसने प्रोफेसर साहब से पूछा—बाबूजी ! आप तैरना जानते हैं ?

उत्तर मिला—नहीं ! मैं तो तैरना नहीं जानता। जानता होता तो तुम्हारे साथ ही मैं भी कूद न पड़ता ?

मल्लाह बोला—तब तो साहब आपकी पूरी उम्र ही पानी में गई समझिये।

आखिर प्रोफेसर साहब नाव सहित ही भयंकर तूफान के कारण जलमग्न हो गए।

बंधुओ ! जिस प्रकार प्रोफेसर साहब महा ज्ञानी होते हुए भी तैरने की कला न जानने के कारण नदी में डूब गए इसी प्रकार साधक भी अनेक

शास्त्रों का ज्ञाता तथा घोर तपस्वी होने पर भी अगर भवसागर तैरने की कला नहीं जानता तो उसका पार होना कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है। वह कला निश्चय रूप से अपने किये हुए पापों तथा भूलों के लिये गर्हा का होना है। जो व्यक्ति अपनी गलतियों के लिये पश्चात्ताप नहीं करता उसके हृदय से अहम् की भावना नहीं जा सकती तथा वह भविष्य में पुनः होने वाली भूलों से भी नहीं बच सकता।

उसकी आत्मा पाप-कर्मों से बोझिल होती हुई इस भवसागर में डूब जाती है और वह क्रम कभी समाप्त होने में नहीं आता। अपने पापों की स्वीकृति मुक्ति का श्रीगणेश है। दार्शनिक लॉगफैलो ने कहा है :—

"Man-like it is to fall into sin; fiendlike it is to dwell therein; Christ-like it is, for sin to grieve, God-like it is, all to leave."

अर्थात् पाप में पड़ना मानव का स्वभाव है, उसमें डूबे रहना शैतान का स्वभाव है, उसपर दुखित होना संत का स्वभाव है और सब पापों से मुक्त होना ईश्वर का स्वभाव है।

कितनी सुन्दर व सत्य उक्ति है कि मनुष्य से पाप हो जाना कोई बड़ी बात नहीं। भूल हो जाना तो मनुष्य का सहज स्वभाव है। जानते हुए अनजाने में भी पाप हो जाते हैं जिनका कि मनुष्य को स्वयं ही पता नहीं चल पाता। किंतु फल उनका भी भोगना पड़ता है।

एक बार द्रौपदी कहीं जा रही थी। रास्ते में एक नदी आई। किनारे पर राजा कर्ण सूर्य की उपासना में मग्न बैठे हुए थे।

उन्हें देखकर क्षण भर के लिये द्रौपदी के मन में आ गया कि यह भी तो पांडवों के भाई हैं अगर उनके साथ रहते तो यह भी मेरे पति होते। विचार आया और चला गया। द्रौपदी भी अपने स्थान पर चली गई।

कृष्ण अन्तर्यामी थे। उन्हें द्रौपदी के इस विचार का पता चल गया। द्रौपदी तो इस बात को भूल ही चुकी थी किन्तु कृष्ण ने सोचा कि अगर यह इस क्षणिक विकार का भी प्रायश्चित्त नहीं करेगी तो यह तनिक-सा पाप भी इसके सतीत्व को कलंकित बनाए रहेगा और द्रौपदी को इसका कटु फल भोगना पड़ेगा। अतः इसका प्रायश्चित्त कराना आवश्यक है।

यह विचारकर एक दिन कृष्ण द्रौपदी तथा पांचों पांडवों को लेकर एक उपवन की ओर पहुँचे। उसमें प्रवेश करने से पूर्व कृष्ण ने सबसे यह कह दिया कि कोई भी इसमें से एक भी फल अथवा फूल तोड़े नहीं। सबने इस आज्ञा को स्वीकार कर लिया और उपवन में प्रवेश किया।

उपवन के सौन्दर्य का अवलोकन करते हुए सब उसमें विचरण कर रहे थे। भीम सबसे पीछे थे। उनकी दृष्टि एक आम्र-वृक्ष की ओर गई। अति-सुन्दर सरस आमों को देखकर उनसे रहा नहीं गया और एक आम तोड़ ही लिया। उसे खाने के लिये तैयार हो रहे थे कि सामने कृष्ण खड़े हुए दिखाई दिये।

कृष्ण ने कहा—मैंने कहा था आप सबसे कि कोई भी फल-फूल नहीं तोड़ सकता। इस आदेश को भूल गए क्या ?

भीम बोले—नटवर ! मुझसे भूल हो गई।

कृष्ण ने कहा—अच्छा इसे वापिस पेड़ की डाल में लगाओ ! भीम चकरा गए और बोले—ऐसा भी हो सकता है क्या ? टूटा हुआ फल वापिस पेड़ में कैसे लग सकता है ?

कृष्ण को तो द्रौपदी को प्रायश्चित्त व शिक्षा देनी थी अतः बोले—हाँ, अगर तुमने कोई पाप न किया होगा तो टूटा हुआ यह फल अवश्य डाल पर लगेगा।

भीम ने कहा—कृष्ण ! मैंने तो अभी पाप किया ही है अतः आप धर्मराज से अपनी परीक्षा की शुरुआत कीजिये।

कृष्ण ने बाकी चारों पांडवों को तथा द्रौपदी को बुलाया और धर्म-राज युधिष्ठिर से फल को वापिस पेड़ में लगाने को कहा।

युधिष्ठिरने इष्टदेव का स्मरण किया और बोले—जहाँ तक मेरी स्मृति है, मैंने किसी दोष का सेवन नहीं किया है। अगर यह सत्य है तो फल पुनः वृक्ष की ओर उठ जाए।

उनके यह कहते ही आम का फल पृथ्वी से कुछ ऊपर उठ गया। उसके पश्चात् अर्जुन, नकुल तथा सहदेव सभी ने इन शब्दों का उच्चारण किया। देखते-देखते आम क्रमशः थोड़ा-थोड़ा ऊपर उठता गया और वृक्ष की

शाखा के निकट जाकर रुक गया।

अब द्रौपदी की बारी आई। उसने हाथ जोड़ कर इष्टदेव को नमस्कार करते हुए कहा- अपने पाँचों पतियों के अतिरिक्त अगर स्वप्न में भी मुझे किसी अन्य की वांछा न हुई हो तो आम्रफल ! तुम वापिस वृक्ष की डाल में लग जाओ।

किन्तु महान् आश्चर्य ! आम वृक्ष में लगने के बजाय वापस पृथ्वी पर गिर पड़ा। सब अभिभूत की तरह खड़े रह गए।

कृष्ण ने तब सहज सान्त्वना के स्वर में कहा—द्रौपदी ! घबराओ नहीं, स्मरण करो, अपने जीवन को टटोलो, कभी तुम्हारी विचारधारा में कोई मलीनता तो नहीं आई ?

द्रौपदी कुछ क्षण निरुत्तर रहकर बोली—भगवन् ! मुझे तो स्मरण ही नहीं आता। कृपया आप ही मुझे मेरे दोष से अवगत कराइये।

कृष्ण ने तब मुस्कराते हुए उसे नदी-किनारे की घटना का स्मरण कराया। द्रौपदी ने अपने उस क्षणिक विकार के लिये घोर पश्चात्ताप किया और सोचा—ओह ! इतनी-सी बात का कटु परिणाम ? मुझे धिक्कार है ! मैंने अपने सतीत्व में कलंक लगाया।

मन में इस प्रकार विचार आते ही द्रौपदी का हृदय निष्कलंक और पवित्र हो गया तथा सबकी आश्चर्य भरी निगाहों के सामने ही आम का वह फल पृथ्वी से उठकर पलभर में ही वृक्ष की डाल में जाकर लग गया।

सज्जनो ! मन की तनिक-सी विकृति का और मन की निर्मलता का परिणाम आपने देखा ? इस प्रकार मन के क्षणिक विकार से आत्मा कलुषित हो जाती है किन्तु सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करने पर तथा कृष्ण सदृश गुरु के समक्ष निवेदन करने पर वह कलुषता कान्ति में बदल जाती है। आत्मा अपनी तेजस्विता को पुनः प्राप्त कर लेती है।

अपने प्रमाद या विगत भूलों के लिए पश्चात्ताप करना आवश्यक है। साथ ही यह ध्यान रखना भी अनिवार्य है कि पश्चात्ताप दिखावटी पश्चाताप न रह जाए। पश्चात्ताप होने के साथ भूलों को सुधारने का तथा नवीन भूलों को न होने देने का दृढ़ संकल्प भी होना चाहिये। यही सच्चे प्रायश्चित्त की कसौटी है।

भविष्य में भूलें न हों, उसका उत्तम उपाय है आलोचना करना। सरल तथा शुद्ध भाव से प्रात:काल तथा सायंकाल अपने दोषों पर विचार करनेवाला साधक भविष्य में अनेक दोषों से बच सकता है। जैसा कि मैंने अभी बताया था अपने पापों की गर्हा भी भगवान् महावीर के निर्देश किये हुए विधान के अनुसार करना चाहिये। कहा गया है :—

जं पुव्वं तं पुव्वं जहाणुपुव्विं जहक्कमं सव्वं।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकाल विधि अभिन्दंतो ।।

समाधिभरण, प्र. १०५

अर्थात् श्रेष्ठ आचार वाले साधक को क्रम और काल का उल्लंघन न करते हुए दोनों की क्रमशः आलोचना करनी चाहिये। जो दोष पहले लगा हो उसकी आलोचना पहले और बाद में लगे दोष की आलोचना बाद में करनी चाहिये।

पैनी एवं अन्तर्मुख दृष्टि वाला साधक अपने जीवन की घटनाओं से बहुत लाभ उठा सकता है यद्यपि निरर्थक दुःख अथवा पश्चात्ताप करके अमूल्य समय गँवाना ठीक नहीं है, किन्तु जो अनुभव प्राप्त हुए हैं उनसे लाभ उठाते हुए शेष जीवन को उपयोगी और दोषरहित बनाना चाहिये।

भूतकाल मनुष्य के हाथ में नहीं है किन्तु भविष्य को बनाना मनुष्य के हाथ में है। इसलिये प्रत्येक आनेवाले क्षण का सदुपयोग करते हुए साधक को साधना-पथ पर बढ़ना चाहिये। समय संसार की सर्वोत्तम विभूति से भी महान् है। क्योंकि अनुकूल प्रयत्न द्वारा सर्वश्रेष्ठ वैभव प्राप्त किया जा सकता है परन्तु करोड़ों प्रयत्न करके भी बीते हुए समय को वापिस नहीं लाया जा सकता। यही कारण है कि भगवान् ने 'समयं गोयम मा पमायए' कहकर समय का मूल्य प्रदर्शित किया है।

साधक को अपने जीवन की महत्ता समझते हुए आत्मा के असली स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्य में ही विशिष्ट विवेक की प्राप्ति होती है। और इसी मानव-शरीर का निमित्त पाकर मुनिजन उच्च गुणस्थानों की प्राप्ति करके मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। यह मानवशरीर तो इस भवसागर से पार उतरने के लिये नौका के समान है। नदी पार करके जिस प्रकार नाव किनारे पर छोड़ दी जाती है उसी प्रकार इस संसार को पार

करके इस नश्वर शरीर का त्याग हो जाता है। कवि के कितने सुन्दर भाव हैं --

भव सागर से पार उतरने को शरीर नौका है।
मानव भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है ।।

साधक को शास्त्रों के विधानों की ओर दृष्टिपात करते हुए विगत पापों का पश्चात्ताप तथा भविष्य के लिये पवित्र भावनाओं से अपने हृदय को विभूषित करना चाहिए तभी आत्मा शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकेगी। और अजर-अमर पद को पा सकेगी ।

o

[१२]

उन्नति के मूल मन्त्र

इस सृष्टि में अपने जीवनकाल में जीते तो सभी मनुष्य हैं किन्तु उनमें से कितने जीवन को उन्नत बनाकर उसे सफल बना पाते हैं ? कितने व्यक्ति सदा जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करते हैं ? उत्तर होगा—बहुत ही कम, इने-गिने पुरुष ही।

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य अपने जेब से पाँच पैसे की वस्तु खरीदने पर उसका सही उपयोग करने का विचार करते हैं किन्तु अमूल्य जीवन की सही उपयोगिता पर विचार करने का कष्ट नहीं उठाते। जीवन किस लिये प्राप्त हुआ है ? इसकी सफलता किसमें है ? हमें कौन से कर्त्तव्य करने चाहिये जिससे जीवन निष्फल न बनकर सफल बने ? इन बातों पर गंभीरता से चिंतन विरले मनुष्य ही करते हैं।

कुछ लोगों की, जो इस विषय में विचार करते भी हैं, दृष्टि अत्यंत सीमित होती है। अतएव वे इहलौकिक उन्नति में ही जीवन की सफलता मान लेते हैं। वे आत्मा के शाश्वत कल्याण के दृष्टिकोण से विचार नहीं करते। कोई करोड़पति बनने में जीवन का साफल्य मानते हैं, कोई मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति में, कोई परिवार की वृद्धि में और कोई भोगोपभोग भोगने में। उनकी दृष्टि में शरीर का सुख मुख्य होता है और शरीर में स्थित आत्मा का सुख नगण्य। वास्तव में वे शरीर और आत्मा को भिन्न तत्त्व ही नहीं मानते या इनकी भिन्नता को समझ नहीं पाते।

किन्तु जिस शारीरिक सुख और भोग-विलास को मनुष्य जीवन का चरम सुख मानता है और जिनकी प्राप्ति के लिये वह अहर्निश दौड़-धूप किया करता है क्या उनसे आत्मा की समस्या सुलझती है ? उनसे आत्मा बन्धनमुक्त और शुद्ध बन सकता है ? भगवान् महावीर ने कहा है—

खणमित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा,
पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा।

संसार मुक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।।
—उत्तराध्ययन १४-१३

अर्थात् यह काम-भोग क्षण भर सुख देने वाले हैं और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं। यह काम-भोग जन्म-मरण से छुटकारा पाने के विरोधी हैं, मोक्ष सुख के शत्रु और अनर्थों की खान हैं।

जिसे आत्मतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता की प्रतीति हो चुकी है ऐसा विवेकवान् व्यक्ति मानव-शरीर का निमित्त पाकर आत्मा को उन्नति की ओर ले जाने में प्रयत्नशील रहता है। आत्मा की उन्नति अथवा उसके कल्याण का अभिप्राय है आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होना। विषय-विकारों को जीतते हुए आत्मा को निर्विकार बनाने का प्रयत्न ही उन्नति है और वही आत्मकल्याण है। आत्मा ज्यों-ज्यों उन्नत होती जाती है, मुक्तिपथ की मंजिल उतनी ही तय होती जाती है।

इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान् को प्रतिक्षण आत्मोन्नति करते हुए अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिये। आत्मा को उन्नत बनाने के लिये सर्वप्रथम आत्मविश्वास होना आवश्यक है। आत्मविश्वास का अर्थ है अपनी असीम और अनन्त क्षमता को समझना। परमात्मा में जिन शक्तियों का अस्तित्व माना जाता है उन सबका अपने में अनुभव करना। समग्र पारमात्मिक शक्तियाँ मेरी आत्मा में निहित हैं, इस प्रकार की प्रबल अनुभूति से तत्काल आत्मा में अनिवर्चनीय बल का प्रादुर्भाव होता है। इसके विपरीत, आत्महीनता का अनुभव होना मृत्यु के समान है। मृत्यु दुखदायी मानी जाती है और वह जीवन के अन्त में एक बार ही दुःख देती है, लेकिन आत्महीनता ऐसी मृत्यु है जो कि पल-पल पर आती है और तिल-तिल करके आन्तरिक शान्ति को नष्ट करती रहती है। अतः आत्मबल की अनुभूति के द्वारा ही बुद्धिमान् पुरुष को आत्मविश्वास पैदा करना चाहिये।

आत्मबल के बिना मानव उन्नति के मार्ग पर एक कदम भी नहीं बढ़ सकता। आत्मबल ही मनुष्य को निर्भय होकर उन्नति पथ पर चलने की प्रेरणा देता है। आत्मबल बढ़ने से इन्द्रियों की प्रबलता घटती है और विषयासक्ति हटने लग जाती है। विषयासक्ति ज्यों-ज्यों कम होती जाती है आत्मा में अपूर्व शान्ति, समता, सन्तुष्टि एवं निराकुलता उत्पन्न होती है और आत्मा का

उत्थान होने लगता है।

प्रश्न उठता है कि आत्मबल कैसे बढ़ाया जाय ? इस विषय में कहा गया है—

उद्यमं साहसं धैर्यं, बलं बुद्धिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते, तस्मात् देवोपि शंकते ॥

अर्थात् जिस व्यक्ति में उद्यम (पुरुषार्थ) साहस, धैर्य, बल, बुद्धि तथा पराक्रम, ये छः गुण होते हैं उसका आत्मबल इतना बढ़ जाता है कि देव भी उससे शंकित रहते हैं।

ये छहों गुण आत्मबल को इतना दृढ़ बना देते हैं कि आत्महीनता का भाव वहाँ अंकुरित ही नहीं होता और आत्मा निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होती चली जाती है। इसलिये इन्हें ही हम उन्नति के मूल मंत्र कह सकते हैं।

उन्नति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को उद्यमशील अर्थात् पुरुषार्थी होना आवश्यक है। सही चिन्तन और उसके अनुसार सही कार्य उन्नति की कसौटी है। वास्तव में सोचना और करना यह दोनों ही उन्नति के चरण हैं। इन दोनों के बराबर चलने पर ही उन्नति हो सकती है।

प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति सोचते बहुत हैं और इतना अधिक सोचते हैं कि वे उतना कर नहीं पाते। और कुछ व्यक्ति बिना सोचे-विचारे करने को तत्पर हो जाते हैं। अंधाधुंध किये जाते हैं। वास्तव में दोनों प्रकार के व्यक्ति अपूर्ण हैं। उनके चिंतन अथवा कार्य का सही उपयोग नहीं हो पाता। इनमें से कोई भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता। उन्नति वही कर पाता है जो अपने विचार और कार्य दोनों में सामञ्जस्य बैठा लेता है और अपने इन दोनों चरणों को क्रमशः चालू रखता है।

किसी भी प्रलोभन, विरोध अथवा भय से अपनी गति को न रोकता हुआ जो उद्यमी पुरुष अपने निर्णीत लक्ष्य की ओर बढ़ता है वही उसे पाने में समर्थ होता है। बिना पौरुष के सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

अर्थात् कार्य मनोरथ से नहीं वरन् उद्यम से सिद्ध होते हैं। सोते हुए

सिंह के मुँह में मृग अपने आप ही प्रवेश नहीं करते !

जंगल का राजा होने पर भी शेर को बिना उद्यम किये अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। उसी प्रकार असीम शक्ति का स्वामी होने पर भी मनुष्य को उद्यम के बिना अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। अगर वह किसी कार्य को करने का निश्चय करता है तो उसे अविलम्ब सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसे पूरा करने का प्रयास करना चाहिये। अगर उद्यमहीनता के कारण विलंब किया जाएगा तो मानसिक शिथिलता बढ़ जाएगी और कार्य करने के लिये किया हुआ निश्चय छिन्न-भिन्न हो जाएगा। उत्साह भंग हो चलेगा। लोहा ठण्डा हो जाने पर उसपर घन की कितनी ही चोटें पड़ें वे फलदायक नहीं होतीं।

बहुत-से मनुष्य अपने पौरुष का युवावस्था में दुरुपयोग करते हैं। उस काल में सांसारिक सुख और विषय-विलास में मस्त रहते हैं। वे सोचते हैं कि वृद्धावस्था में धर्म-कार्य करके मुक्ति का प्रयत्न कर लेंगे। यह मनोदशा अतिशय शोचनीय है।

प्रथम तो वे यह भूल जाते हैं कि वृद्धावस्था में समस्त इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं, शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, पौरुष थक जाता है और इच्छा रहने पर भी मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। जब इन्द्रियाँ जवाब दे देती हैं उस समय इच्छा होने पर भी क्या किया जा सकता है ? पश्चात्ताप के अलावा कुछ भी हाथ नहीं आता। यही विचार कर कवि ने मानव को चेतावनी दी है—

> जौ लौं देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी,
> जौ लौं जरा नाहीं नेरी जासौं पराधीन परि है।
> तौ लौं मित्र मेरे ! निज कारज सँवार लै रे।
> पौरुष थकेंगे फेरि पीछे कहा करि है ?

अर्थात् जब तक शरीर को किसी व्याधि ने नहीं घेरा है और बुढ़ापा निकट नहीं आया है तब तक मित्र ! आत्मा का कल्याण करके जीवन का महान् उद्देश्य पूर्ण कर लो। अन्यथा फिर पौरुष के थक जाने पर क्या कर सकोगे ?

बंधुओ ! दूसरी बात यह है कि वृद्धावस्था आएगी ही, यह निश्चय-

पूर्वक कौन कह सकता है ? मौत किसी भी क्षण प्राणी को दबोचकर ले जा सकती है। वह तो तभी से ताक लगाए रहती है जब जीव जन्म लेता है। यमराज के झपट पड़ने पर फिर किसकी सामर्थ्य है जो अपनी आयु का एक क्षण भी बढ़ा सके ? कहा भी है—

किसका है सामर्थ्य काल का भोग न होने देवे।
कौन आज तक जनमा है जो आयु वृद्धि कर लेवे ? ॥

कितना कठोर सत्य है ! वास्तव में जीवन का कुछ भी भरोसा नहीं है। अभी है और क्षणभर में नहीं है। ऐसी स्थिति में मनुष्य भविष्य का भरोसा करके अपने जीवन को बिना उद्यम किये ही नष्ट कर देते हैं। इससे भयंकर भूल और क्या हो सकती है।

बगदाद का खलीफ़ा अपने निजी खर्च के लिये प्रतिदिन शाम को राजकोष से सिर्फ एक रुपया लिया करता था। इससे अधिक न लेने का उसने नियम बना लिया था। एक रुपया में ही वह अपने तथा अपने परिवार के खाने-पीने और कपड़ों का खर्च चलाया करता था।

एक बार ईद के त्यौहार पर राज्य के सभी लोगों तथा बच्चों को नए कपड़े पहने देखकर खलीफ़ा के बच्चे भी नए कपड़ों के लिये ज़िद करने लगे। खलीफ़ा की पत्नी ने उन्हें बहुत समझाया किन्तु बच्चे ही तो ठहरे, उन्होंने हठ नहीं छोड़ा।

अन्त में खलीफ़ा की पत्नी ने खलीफ़ा से कहा—आप तीन दिन के तीन रुपये आज पेशगी ले आइये। उनसे बच्चों के कपड़ों का प्रबंध कर लेंगे। किन्तु खलीफ़ा ने पत्नी की बात का उत्तर दिया—"अगर तुम खुदा के पास जाकर मेरी जिन्दगी के तीन दिन का पट्टा ले आओ तो मैं उसके आधार पर राजकोष से अपने तीन दिन के रुपये पेशगी ले लूंगा।"

पत्नी निरुत्तर हो गई। वह जानती थी कि तीन दिन की तो क्या, इंसान तीन क्षण की भी गारंटी अपनी जीवन की नहीं ले सकता।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह आज का कार्य कभी कल पर छोड़कर उद्यमहीन न बने, छोटा अथवा बड़ा कार्य यथासमय आरम्भ करके उत्साहपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। प्रमाद के कारण अपने पुरुषार्थ को निर्बल बना लेना अवनति का कारण होता है।

उन्नति का दूसरा मंत्र है साहस। मनुष्य साहस की अपराजेय शक्ति का स्वामी होता है। साहस के बल पर अन्धकार को चीर कर भी इंसान प्रकाश प्राप्त करता है। साहस कहीं हारता नहीं, कभी पीछे हटता नहीं। साहसी मनुष्य के लिये विश्व में कोई भी कार्य असंभव नहीं होता। कहा भी गया है—

अंगनवेदी वसुधा, कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य॥

साहसी और दृढ़प्रतिज्ञ वीर के लिये समस्त संसार घर के आंगन के समान, समुद्र एक क्षुद्र नदी के समान, पाताल स्थल के समान और सुमेरु पर्वत भी दीमक के घरौंदे के समान होता है।

साहसी व्यक्ति जिस कार्य में हाथ डालता है, सफलता प्राप्त करके ही रहता है। 'असंभव' शब्द उसके कोष में कहीं नहीं होता। कठिन-से-कठिन परिस्थिति आ जाने पर भी वह हिम्मत नहीं हारता। अन्त में सफलता उसके चरण अवश्य चूमती है। किसी शायर ने मनुष्य के साहस और हिम्मत को ललकारते हुए एक अन्योक्ति कही है—

न शाखे गुल ही ऊँची है, न दीवारे चमन बुलबुल।
तेरी हिम्मत की कोताही, तेरी किस्मत की पस्ती है॥

अर्थात् हे बुलबुल! न तो शाखाएँ ही ऊँची हैं और न बगीचे की दीवारें ही ऊँची हैं। सिर्फ तेरी हिम्मत की कमी ही किस्मत की हार है।

वास्तव में ही साहस भाग्य को बनाने वाला होता है। यह मानव का ऐसा महान् गुण है जिसके होने पर अन्य अनेक गुण उसमें स्वयं आ जाते हैं। चर्चिल का कथन है—

Courage is the first of human-qualities because it is the quality which guarantees all the others.

मानव के सभी गुणों में साहस पहला गुण है क्योंकि यह सभी गुणों की जिम्मेदारी लेता है।

साहसी व्यक्ति जिस प्रकार सांसारिक कार्यों में सफलता प्राप्त करता, अपने बाह्य शत्रुओं को जीत लेता है, उसी प्रकार आंतरिक शत्रुओं को भी

जीतने में समर्थ होता है। और वैर, विरोध, राग, द्वेष, तथा वैमनस्य आदि मनुष्य के आंतरिक शत्रु हैं जो आत्मा पर अधिकार करके उसे अधोगति की ओर ढकेल देते हैं। इनपर विजय पाना असीम साहस का कार्य है। जो इन्हें जीत लेता है वह वास्तव में साहसी पुरुष माना जाता है।

इन आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये पहले मनुष्य को इन्द्रियों पर और मन पर भी विजय प्राप्त करना होता है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना टेढ़ी खीर है परन्तु मन को जीतना उससे भी कठिन। गीता में कहा है—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमादि बलवद् दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्जुन हीनभाव से ग्रस्त होकर कृष्ण से कहते हैं—मन बड़ा चंचल है, मनुष्य को मथ डालता है। यह बहुत बलवान् है। जैसे वायु को दबाना बहुत कठिन है वैसे ही मन को वश में करना भी मुझे अत्यन्त कठिन लगता है।

इसके उत्तर में कृष्ण ने समझाया कि मन भले चंचल और बलवान् हो तथापि वह अन्ततः है तो आत्मा का औजार ही। वैराग्य और अभ्यास से उसे अवश्य वशीभूत किया जा सकता है।

कहने का मतलब यह है कि साहसी मनुष्य मन पर और इन्द्रियों पर विजय पा सकता है, इन्हें अपना अनुचर बना सकता है। कायर व्यक्ति को मन अपना गुलाम बना लेता है, और अपनी इच्छानुसार उसे नचाया करता है। कमजोर और डरपोक व्यक्ति किसी भी कार्य को हाथ में लेने से पहले उससे भयभीत हो जाते हैं। वे कभी सोचते हैं कि मुझसे यह कार्य हो सकेगा या नहीं? और कभी सोचते हैं कि कार्य में अगर गलती हो गई तो लोग मज़ाक उड़ाएँगे।

इसके विपरीत साहसी व्यक्ति न अपनी कर्तृत्वशक्ति में ही अविश्वास करता है और न ही लोगों के उपहास से भयभीत होता है। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अदम्य साहसपूर्वक जुटा रहता है। किसी भी बाधा की परवाह नहीं करता। अपने साहस को वह अपना सबसे बड़ा सहयोगी मानता है और उसकी सहायता से निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होता रहता है।

उन्नति के लिये तीसरा गुण आवश्यक है धैर्य। मनुष्य को प्रत्येक

स्थिति में धैर्य रखना आवश्यक है। अनेक पुरुष किसी कार्य का आरम्भ करते हैं पर शीघ्र ही फल प्राप्त न होने पर अधीरता के कारण उसे छोड़कर दूसरा कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सफलता प्राप्त होना कठिन होता है। महामूर्ख व्यक्ति भी अगर धैर्यपूर्वक सतत प्रयत्न करता रहे तो कालान्तर में वह अवश्य ही महापंडित बन सकता है।

किन्तु कुशाग्रबुद्धि मनुष्य भी अगर कुछ दिन अंग्रेजी पढ़े, उसमें अरुचि हो जाने पर संस्कृत पढ़ना आरम्भ करे और फिर उसे छोड़कर हिन्दी पढ़ने लगे। और उसे भी धता बताकर प्राकृत सीखने लगे तो मैं समझता हूँ कि वह किसी भी भाषा में पूर्ण योग्यता हासिल नहीं कर सकता। सफलता में विलम्ब होते देख धैर्य रखना बड़ा कठिन होता है किन्तु अन्त में उसका परिणाम बड़ा सुन्दर निकलता है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—

"Patience is bitter, but its fruit is sweet." अर्थात् धैर्य कड़वा होता है पर उसका फल मधुर होता है।

साधना के क्षेत्र में तो धैर्य की अनिवार्य आवश्यकता है। साधक अगर विघ्न-बाधाओं से घबराकर अपनी साधना से च्युत हो जाए तो वह साधना का फल प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् महावीर ने बारह वर्ष तक लगातार साधना की थी। साधना के काल में अनेक कष्टों का उन्हें सामना करना पड़ा था, किन्तु अनुपम धैर्य से उन्होंने सब सहन किया। तभी उसका अमिट फल वे प्राप्त कर सके।

गौतमबुद्ध ने निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर ज्ञान प्राप्त करने के लिये घोर तपस्या की। कठोर तपश्चर्या के कारण उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया तब उन्होंने साधना के उस मार्ग का ही परित्याग कर दिया। वास्तव में असीम धीरज होने पर ही आत्मा परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

महापंडित वोपदेव दक्षिण के यादव वंशी राजा महादेव की सभा के पंडित थे। बचपन में जब वे अध्ययन करते थे, उन्हें व्याकरण याद नहीं होता था। इस कारण उनके गुरुजी उनसे सदा अप्रसन्न रहा करते थे। पाठशाला में उन्हें सदा अपमानित होना पड़ता था।

एक दिन पाठ याद न होने के कारण गुरुजी ने उन्हें बहुत पीटा। वोपदेव अत्यंत दुखी और निराश होकर एक कुंए के पास जाकर बैठ गए। उनका मन

बहुत ही चिंतामग्न था।

एक स्त्री उस कुँए पर पानी भरने के लिये आई। वोपदेव ध्यानपूर्वक उसका पानी भरना देख रहे थे। उन्होंने देखा कि निरन्तर रस्सी की रगड़ से वहाँ का पत्थर घिस गया था और उसपर गहरे निशान बन चुके थे।

यह देखकर वोपदेव के हृदय में विचार आया—"निरंतर रस्सी की रगड़ से जब पत्थर भी घिस गया है, तो क्या यह संभव नहीं है कि निरंतर परिश्रम करने से मुझे व्याकरण याद हो जाय? अवश्य ही व्याकरण मुझे धैर्यपूर्वक लगातार परिश्रम करने से याद हो जाएगा।"

इसके बाद वोपदेव के हृदय में दृढ़ विश्वास हो गया और उन्होंने अथक प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। अत्यन्त उत्साह और आशा के साथ वे आवृत्ति पर आवृत्ति करते रहे। परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर वे प्रकांड विद्वान् बने और उन्होंने 'मुग्ध-बोध' नामक व्याकरण लिखा। सत्य ही है—

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान
रसरी आवत-जात ते सिल पर परत निशान॥

संकट और दुःख के समय में मनुष्य को आर्त्तध्यान छोड़कर धीरज रखना चाहिए। आपत्ति के समय धीरज त्याग देने से उसका सामना एवं प्रतीकार नहीं किया जा सकता। निराशा और दुखपूर्वक हाय-हाय करने से क्या बन सकता है? ऐसे समय में धैर्यपूर्वक स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करना ही उचित है। नीतिकारों ने कहा है—

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा,
भये वा जीवितान्तके।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या,
धृतिमान् नावसीदति॥

अर्थात् शोक में, आर्थिक संकट में अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होने पर जो व्यक्ति अपनी बुद्धि से दुःख निवारण के उपाय का विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, उसे कभी कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

सच पूछा जाय तो संकट के समय धीरज धारण करना मानो आधे

संकट का निवारण करना है। और लड़ाई के समय धीरज रखना आधी लड़ाई जीत लेने के समान है। कहा जाता है कि शत्रु का लोहा भले ही गरम हो जाए पर हथौड़ा तो ठण्डा रहकर ही काम दे सकता है।

धैर्य शील व्यक्ति छोटी-मोटी कठिनाइयों से निराश अथवा उत्तेजित नहीं होता। वह इनकी परवाह किये बिना ही अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है। बड़े-से-बड़ा संकट भी उसे अपने मार्ग से च्युत नहीं कर पाता।

एक सेठ बड़े धर्मात्मा थे। वे नियमित रूप में धर्मस्थानक में जाकर सामायिक, ध्यान तथा स्वाध्याय किया करते थे।

एक दिन सेठ का इकलौता पुत्र चल बसा। इस कारण सेठ जी को धर्म-स्थान में जाने में विलम्ब हो गया। जब वे कुछ विलम्ब से धर्मस्थान में पहुँचे तो जैनाचार्य ने उनसे विलम्ब से आने का कारण पूछ लिया। सेठ ने उत्तर दिया—भगवन् ! आज आवश्यक कार्यवशात् देर हो गई। यह कहकर सेठ जी अपने कर्म में रत हो गए।

कुछ काल पश्चात् चार-छह व्यक्ति वहाँ आए और उन्होंने आचार्य से कहा—महाराज ! आज बड़ा अनर्थ हो गया।

महाराज ने उत्सुकता से प्रश्न किया—क्या बात है भाई ?

उन लोगों ने कहा—सेठ जी का इकलौता पुत्र गुजर गया है।

धर्माचार्य सेठ जी की धीरता से अत्यन्त प्रभावित हुए यह देखकर कि सेठ जी पुत्र-निधन जैसे भयंकर एवं कष्टदायक समय में भी प्रभु-भक्ति को नहीं भूले। वे अपूर्व साहस एवं धैर्य का परिचय देकर धर्म-स्थानक में आए। उन्होंने सेठ जी को सान्त्वना दी।

किन्तु सेठजी बोले—"महाराज ! संसार में कौन किसका है ? पुत्र मेरा होता तो मेरे पास रहता, मुझे छोड़कर जाता ही क्यों ? मुझे छोड़कर जाने वाले पुत्र के कारण मैं अपनी साधना छोड़ूं, इससे तो अधिक हानि ही होगी।

बंधुओ ! इस प्रकार हम देखते हैं कि सच्चा साधक किसी भी स्थिति में धैर्य नहीं खोता और तभी वह सिद्धि प्राप्त करने में सफल होता है। सफल की कुंजी धैर्य ही है। अधीर व्यक्ति सफलता से कोसों दूर रह जाता है क्यों-कि वह हिम्मत हारकर अपने मार्ग को छोड़ देता है। परिणाम यह होता है

कि सिद्धि के लिये किये हुए बहुत कुछ प्रयत्न पर भी पानी फ़िर जाता है। कोई व्यक्ति कुंए में से पानी खींचने जाए। कुए की गहराई सौ हाथ हो। वह व्यक्ति नव्वे हाथ रस्सी खींचे और तब भी पानी न पा सकने पर झल्लाकर अथवा निराश होकर सिर्फ दस हाथ की दूरी रह जाने पर भी रस्सी हाथ से छोड़ दे। इस तनिक-सी अधीरता का क्या परिणाम निकलेगा? प्रथम तो वह जल प्राप्त नहीं कर सकेगा, दूसरे नव्वे हाथ रस्सी खींचने का परिश्रम भी व्यर्थ चला जाएगा।

इसलिये मानव को धैर्य का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। अपने मन को साहस बंधाते हुए सदा चेतावनी देते रहना चाहिये—

धीरे धीरे रे मना धीरे कारज होय।

अब हम उन्नति के चौथे मंत्र पर आते हैं। वह है-'बल'। बल अथवा शक्ति के बिना उन्नति होना किसी भी क्षेत्र में असंभव है। सामाजिक क्षेत्र में कहा जाता है 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' अर्थात् जिसके पास शक्ति है वही सर्व साधनों से सम्पन्न बन सकता है।

धार्मिक क्षेत्र में भी शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति के बिना साधना असम्भव है। साधक की मानसिक शक्ति जब असीम होती है तभी वह अपनी साधना को आगे बढ़ाता जा सकता है। कमजोर व्यक्ति साधना के क्षेत्र में सफ़लता प्राप्त नहीं कर सकता।

सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिये शक्ति का होना अनिवार्य है। युद्ध के अवसर पर सेनापति सैनिकों को ललकारता है झपटो, शत्रु पर हमला करो। और एक धर्माचार्य भी जनता से कहता है— अपने कषायादि आंतरिक शत्रुओं का मुकाबला करो, उन्हें पूरी तरह परास्त कर दो। दोनों ही शक्ति के द्वारा शत्रुओं से जूझने का उपदेश देते हैं।

शक्ति सफलता का मूल है। संसार में जितने भी कार्य किये जाते हैं, उन सब की जड़ में शक्ति ही कार्य करती है। शक्ति ही जीवन है। उसके बिना जीवन की कल्पना करना कठिन है। शक्तिहीन अथवा शक्ति होने पर भी आलसी मनुष्य कभी भी सफल जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। उसका जीवन ऐसे रेगिस्तान की तरह होता है, जिसमें कुछ भी पैदा नहीं हो सकता।

मनुष्य को एक महत्त्वपूर्ण बात जो ध्यान में रखने की है, वह यह कि

अपनी शक्ति का उपयोग सत्कृत्य में करे। देश, समाज तथा आत्मा के कल्याण के लिये अपनी शक्ति को कार्य में लाए। चोरों-डाकुओं का शक्ति-प्रयोग मनुष्यों के अकल्याण तथा उन्हें पीड़ा पहुंचाने के लिये होता है। उससे न स्वयं उनका भला होता है और न ही दूसरों का। यद्यपि अपने साहस व शक्ति से वे अनेकों व्यक्तियों पर धाक जमा लेते हैं किन्तु उससे उन्हें पाप कर्मों के उपार्जन के सिवाय और क्या आ सकता है? इससे तो उनका शक्तिहीन होना ही अच्छा है। भगवती सूत्र में प्रश्न किया गया है—भगवन्! मनुष्य का सबल होना अच्छा या निर्बल होना अच्छा? भगवान् ने उत्तर दिया—धार्मिक मनुष्य का सबल होना अच्छा और अधर्मी का निर्बल होना अच्छा।

मनुष्य शक्तिशाली बने किन्तु अपनी शक्ति का प्रयोग स्व-पर की उन्नति में करे, अवनति में नहीं। यदि उसका उद्देश्य अच्छा होता है तो शक्ति का प्रयोग सही माना जाता है। अतएव शक्ति पर नियंत्रण रखते हुए मनुष्य को बुद्धिमानी से उसे नेक कार्यों में लगाना चाहिये।

बुद्धिमानी, मनुष्य के मस्तिष्क की शक्तियों की रक्षा करती है। बुद्धिमानी के बिना मनुष्य मूर्ख और डरपोक बना रहता है। वह अपनी शक्ति पहचान नहीं पाता, न ही उसका उपयोग कर पाता है।

एक आदमी अपने भतीजे के साथ किसी गांव को जा रहा था। रास्ते में एक चोर मिल गया। चोर ने अपनी लाठी ज़ोर से पृथ्वी पर पटकी और चाचा-भतीजे को धमकाया।

दोनों ही काँपने लगे। उनका धन लूट लिया और चलता बना। चाचा-भतीजा भी अपना-सा मुँह लेकर गाँव में वापिस आ गए। जब गाँववालों ने यह सुना तो पूछा—भाई कितने चोर आए थे जो तुम जैसे दो पहलवानों को भी लूट कर ले गए।

भतीजा बोला—अरे! क्या बताएँ—

'हूँ ने काको एकलो, चोर, लाठी ने धमको तीन।'

ये ऐसे डरपोक मनुष्य क्या कर सकते हैं। निर्बल व्यक्ति कहते हैं हमारे पास जब साहस नहीं है तो हम शत्रुओं को परास्त कैसे करें। वे साधनाभाव को अपनी कमजोरी की ढाल बनाते हैं।

जब राम अयोध्या से चौदह वर्षों के लिये वन को चले थे तो उनके

साथ कौन सा लश्कर था ? जंगली जानवरों तथा राक्षसों से भरे हुए जंगलों में वे सिर्फ तीन ही तो विचरण करते रहे थे ।

और जब रावण ने सीता का अपहरण कर लिया तो महाबली रावण को परास्त करने में कितने थे उनके सहायक ? कितना महान् मनोबल था राम में ? तभी तो कहा है :—

विजेतव्या लंका, चरणतरणीयो जलनिधिः,
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्येको रामः सकलमवधीत् राक्षसकुलम् ।
क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महताम् नोपकरणे ।।

अकेले राम वानरों की सहायता से समुद्र को पार करके लंका को जीत लेते हैं और सम्पूर्ण राक्षसकुल का संहार कर देते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कार्य की सिद्धि अपने ही सत्व के बलपर होती है, साधनों के बल पर नहीं ।

किसी व्यक्ति में अगर मनोबल और शारीरिक बल नहीं है तो उसे बंदूक, तलवार और लाठी दे देने पर भी क्या फायदा होगा ? वह उन साधनों का उपयोग नहीं कर सकेगा ।

वास्तव में जिसके पास अपनी शक्ति नहीं होती उसे इन्द्र भी शक्ति नहीं दे सकता । सच्ची शक्ति आत्मा के अन्दर से आती है, बाहर से नहीं । आत्मविश्वास शारीरिक शक्ति से भी बढ़कर है । मनुष्य अपनी शक्ति को तब तक नहीं समझ सकता जबतक वह इस बात को दृढ़तापूर्वक हृदयंगम न कर ले कि विश्व के महान तत्व का मैं एक अंश हूँ—मैं अनन्त विभुता का अधीश्वर हूँ ।

जो आत्मा को पहचानता है वह आत्मा की अनन्त शक्ति को भी पहचानता है । वैदिकदर्शन में कहा है—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।"

जो बलहीन है वह आत्मस्वरूप को कभी प्राप्त नहीं कर सकता । जैनदर्शन अथवा हमारे सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का एक ही लक्ष्य है 'मुक्ति' । आत्मा से परमात्मा हो जाना, समस्त कर्मबन्धों से छूट जाना ।

जैनदर्शन में छः संहनन माने गए हैं । संहनन का अर्थ है—हड्डियों का

निचय अर्थात् रचना विशेष, छः संघयणों में से एक वज्रऋषभनाराच संहनन होता है। इस संहनन का धनी जो व्यक्ति होता है उसकी हड्डियाँ वज्र की मजबूत होती हैं और वह प्रबलतम शारीरिक शक्ति का स्वामी माना जाता है। 'वज्रऋषभनाराच संहनन' वाला व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है। अगर ऐसा व्यक्ति अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है तो सातवें नरक में जाता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिये भी साधक में शारीरिक तथा मानसिक दोनों बल होने चाहियें। शारीरिक शक्ति के बलपर व्रत, उपवास, तपश्चरण, यम, नियम आदि साधना के अंगों का यथा-विधि पालन किया जा सकता है और मानसिक शक्ति के बल पर क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ तथा लालच आदि आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। संक्षेप में यही कि, तन और मन दोनों की शक्तियों के सदुपयोग द्वारा ही सही रूप में साधना की जा सकती है और भव-भ्रमण से छुटकारा पाया जा सकता है।

उन्नति का पाँचवाँ मंत्र है 'बुद्धि'। अभी आपको बताया गया था कि शक्तिशाली मनुष्य ही अपनी शक्ति के द्वारा कर्म-बंधनों को काटकर मुक्त हो सकता है। किन्तु शक्ति का उपयोग सही दिशा में हो, इसके लिये बुद्धि का होना अनिवार्य है। मगर बुद्धि श्रद्धासम्पन्न तथा कषाय की मलीनता से रहित होनी चाहिये। भगवान् ने कहा है कि मनोयोग इतना शक्तिशाली होता है कि वह आत्मा को क्षणभर में मोक्ष पहुँचा सकता है। किन्तु अगर बुद्धि के बिना उसका गलत प्रयोग किया जाए तो सातवें नरक का अतिथि भी बना देता है। बुद्धि के बिना सिर्फ बल से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। कहा भी है—

बुद्धिर्यस्य बलंतस्य
निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्

जिसके पास बुद्धि होती है समझना चाहिये उसके पास ही बल है। निर्बुद्धि के पास बल नहीं होता।

बुद्धिमान् व्यक्ति प्रत्येक कठिनाई में से सहज ही निकल जाता है। उसका चातुर्य प्रत्येक परिस्थिति में अपना मार्ग खोज लेता है। [illegible] में सिद्धपुर नामक एक नगर है। वह सिद्धराज नाम के एक अत्यन्त [illegible] व्यक्ति

के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ है।

सिद्धराज के पिता करणसिंह उसे तीन वर्ष का छोड़कर स्वर्गवासी हो गए थे। माता ने अत्यन्त बुद्धिमानी से बालक सिद्धराज को योग्य बनाया। एक बार जब वह बालक ही था, किसी कारण से दिल्ली के बादशाह ने कुपित होकर उसे दरबार में आने की आज्ञा भेजी।

सिद्धराज की माता अत्यन्त भयभीत हुई। किन्तु उसने दृढ़ता रखते हुए सिद्धराज को दिल्ली दरबार में जाने के लिये तैयार कर दिया। जब वह रवाना होने लगा, उसकी माता ने समझाया—बादशाह ऐसा प्रश्न पूछें तो इस प्रकार उत्तर देना और अमुक प्रश्न पूछें तो यह उत्तर देना। अंत में सिद्धराज ने कहा—माँ! अगर बादशाह इनमें से कोई भी प्रश्न पूछकर कोई अन्य प्रश्न पूछ ले तो? माता ने उत्तर दिया—बेटा! तब तुम अपनी बुद्धि से काम लेना।

माँ का आशीर्वाद लेकर सिद्धराज दिल्ली पहुँचा। बादशाह सख्त नाराज था। उसने बालक के दोनों हाथ पकड़कर पूछा—"बतलाओ, अब तुम्हारा रक्षक कौन है?

सिद्धराज ने सोचा कि माँ के बताए हुए उत्तरों में से तो एक भी यहाँ काम नहीं आ सकता। तब उसने अपनी बुद्धि से उत्तर दिया—आप ही तो मेरे रक्षक हैं।

बादशाह चकराया, बोला—मैं तुम्हारा रक्षक किस प्रकार हूँ?

सिद्धराज ने नम्रतापूर्वक कहा—जहाँपनाह! जो व्यक्ति स्त्री का एक हाथ पकड़कर लाता है वह जीवन के अन्तिम क्षणों तक उसकी रक्षा करता है। फिर आपने तो मेरे दोनों हाथ पकड़ लिये हैं। इसलिये अब आपसे बढ़कर मेरा रक्षक और कौन हो सकता है?

बादशाह सिद्धराज के बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर को सुनकर प्रसन्न हो गया और उसे क्षमा कर दिया।

बुद्धिमान् के लिये इस लोक में कुछ भी असंभव नहीं है। शारीरिक बल कम होने पर भी अगर मनुष्य के पास बुद्धिबल अधिक होता है तो वह महान्-से-महान् शत्रुओं को भी जीत लेता है।

बुद्धेर्बुद्धिमता लोके नास्त्यगम्यं हि किंचन ।
बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः ।।

अर्थात् बुद्धिमानों की बुद्धि के सम्मुख संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है । बुद्धि से ही शस्त्रहीन चाणक्य ने सशस्त्र नन्दवंश का नाश कर डाला ।

मूर्ख व्यक्ति शक्तिशाली होकर भी जीवन में कुछ नहीं कर सकता । तभी कहा जाता है कि बुद्धिमान् मनुष्य का एक दिन मूर्ख के जीवन भर के बराबर होता है—

"A wise man's day is worth a fool's life."

बुद्धिहीन मनुष्य के समक्ष संसारभर के सर्वोत्तम साधन प्रस्तुत कर दिये जायँ तो भी वह उनसे लाभ नहीं उठा सकता । न तो वह सांसारिक क्षेत्र में ही सफलता प्राप्त कर सकता है और न ही आध्यात्मिक क्षेत्र में । बुद्धि और विवेक के बिना बाल तपस्या करके शरीर को कष्ट देकर भी मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती और न ही शास्त्रों का भंडार सामने होने पर लाभ उठाया जा सकता है । कहा गया है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ।।

जिसमें स्वयं अपनी बुद्धि नहीं है उसको शास्त्रों से क्या लाभ ? जैसे नेत्रहीन मनुष्य के लिये दर्पण लाभकारी नहीं होता उसी प्रकार मूर्ख व्यक्ति भी शास्त्रों से कोई लाभ नहीं उठा सकता ।

बुद्धिहीन व्यक्ति पग-पग पर मुसीबतों में फंस जाता है । कभी-कभी तो अपनी मूर्खता के कारण जान से भी हाथ धो बैठता है ।

एक बार एक राहगीर जंगल में से गुजर रहा था । अचानक रास्ते में उसे एक भालू मिल गया । राहगीर ने अपने बचाव का उपक्रम करते हुए किसी तरह भालू के दोनों कान पकड़ लिये । इस मुठभेड़ के कारण राहगीर के कपड़े फट गए और उसके पास रहा हुआ सोना तथा सिक्के जमीन पर बिखर गए ।

इतने में ही एक मूर्ख वहाँ आ पहुँचा । सोना तथा सिक्के बिखरे-हुए देखकर उसने राहगीर से पूछा—भाई, मामला क्या है ?

राहगीर बुद्धिमान् था। उसने अपनी जान तथा धन बचाने के लिये बुद्धिमत्तापूर्वक उत्तर दिया—मित्र! मैं इस भालू के दोनों कान खींच खींच कर इसके मुंह से सोना और सिक्के उगलवा रहा हूँ।

मूर्ख के मुंह में सोने को देख पानी आ रहा था। वह लालच में फंस गया और सोना पा लेने के लोभ में आकर बोला—मुझे भी थोड़ी देर इसके कान खींच लेने दो।

राहगीर तो यह चाहता ही था। वह बोला—अवश्य मित्र! तुम भी इसके कान खींचकर सोना उगलवा लो। मगर जल्दबाजी मत करना। भालू बड़ा पक्का है। काफी देर तक कान खींचने के बाद सोना उगलता है। जब तक यह सोना न उगले कान मत छोड़ना।

यह कहकर राहगीर ने उस मूर्ख को भालू के दोनों कान पकड़ा दिये और अपना सोना तथा सिक्के लेकर नौ दो ग्यारह हो गया। इस प्रकार बुद्धिमान् पथिक ने अपनी बुद्धिमानी से प्राण और स्वर्ण दोनों की रक्षा कर ली। कहा भी गया है—

शीघ्रमु-उत्पद्यते बुद्धिः, सा बुद्धिः फलदा मता।
भालुकर्णौ करे दत्वा, पान्थेन रक्षितं हि स्वम्॥

वास्तव में परिस्थिति को देखकर तुरन्त जो सूझ-बूझ उत्पन्न हो जाती है वह अत्यन्त फलदायिनी होती है। जिस प्रकार राहगीर ने भालू के दोनों कान मूर्ख मनुष्य को पकड़ाकर अपनी तथा अपने धन की रक्षा कर ली।

बुद्धि की स्थिरता के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। मनुष्य के पास बुद्धि का होना सर्वोत्तम बल का होना है। जिसके पास बुद्धि नहीं उसे निरा बिना सींग और पूंछ का बैल समझना चाहिये। बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले कार्य उत्तम फलदाता होते हैं। केवल बाहुबल के सहारे किये जाने वाले कार्य मध्यम श्रेणी के। बुद्धितत्व दैवी विभूतियों में एक उच्च कोटि का वरदान है।

मूर्ख व्यक्ति छोटा-सा कार्य आरम्भ करते हैं। और उसी से व्याकुल हो जाते हैं, निराश हो जाते हैं और प्रायः असफल होते हैं। किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति बड़े-से-बड़ा कार्य आरम्भ करके भी निश्चिन्त रहते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं। साधना के क्षेत्र में भी मूर्ख व्यक्ति अनेकानेक कष्ट सहकर भी

शुभफल प्राप्त नहीं करते किन्तु बुद्धिमान् उन सब कष्टों पर विजय प्राप्त करके भव-बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

बंधुओ! उन्नति के जो छः मूल मंत्र बताए हैं उनमें अन्तिम पराक्रम है। बुद्धि एक दैवी वरदान है। अनेक मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं किन्तु वे यदि कार्यसिद्धि के लिए पराक्रम का उपयोग न करें तो उनकी बुद्धि भी निष्फल जा सकती है।

तलवार कठोर-से-कठोर वस्तु को काट सकती है, किन्तु अगर कुछ दिनों तक कार्य में न लिया जाए तो उसपर जंग लग जाएगा और वह किसी काम की न रहेगी। इसी प्रकार बुद्धि को सदा निखारा न जाय तो वह प्रमाद के कारण कुंठित हो जाएगी। इसलिये बुद्धि के साथ-साथ उत्साह और पराक्रम अत्यन्त आवश्यक है जो कि बुद्धि में सदा चार चाँद लगाते रहें।

किसी महात्मा का कथन है कि "पराक्रम अमरत्व का मार्ग है।" पराक्रमी कभी मरते नहीं। इसके विपरीत कायर व्यक्ति जीवित रहकर भी मृतकवत् बने रहते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पराक्रम की आवश्यकता होती है। पराक्रमी व्यक्ति जीवन में कभी हिम्मत नहीं हारता, वह जिस कार्य को आरम्भ करता है उसे पूरा किये बिना चैन नहीं लेता। कायर व्यक्ति बार-बार कार्यारम्भ करके भी किसी को पूरा नहीं कर पाता। इसीलिये गांधीजी ने कहा था— मैं कायरता तो किसी भी हालत में सहन नहीं कर सकता। मेरे गुजर जाने के बाद कोई यह न कहने पाए कि गांधी ने लोगों को नामर्द बनना सिखाया। अगर आप सोचते हैं कि मेरी विचारधारा कायरता के बराबर है और उससे कायरता पैदा होगी तो आपको उसे छोड़ देने में जरा भी हिचकना नहीं चाहिये। आप निपट कायरता से मरें, इसकी अपेक्षा आपको बहादुरी से प्रहार खाते हुए मरना मैं कहीं बेहतर समझूंगा।

अपने सत्य पर दृढ़तापूर्वक डटे रहना गांधीजी की सबसे बड़ी शिक्षा थी। चाहे उसके लिये जान भी क्यों न देनी पड़े।

आन में फर्क न आने दीजिये।
जान अगर जाये तो जाने दीजिये॥

मनुष्य को अंगार की तरह तेजस्वी और प्रकाशमय बनना चाहिये। राख की तरह निस्तेज और रूक्ष बनकर जीना उसे शोभा नहीं देता।

जीवन कितना लम्बा है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो इस बात का है कि जितने काल तक जीवित रहा जाय पराक्रम और तेजस्वितापूर्वक जिया जाय। पराक्रम जीवन है और कायरता मृत्यु। 'जूलियस सीजर' ने कहा था—

"Cowards die many times before their death; but valiant taste death but once."

अर्थात् कायर अपने जीवन-काल में ही अनेक वार मरता है; वीर पुरुष केवल एक ही बार मरता है।

संसार में कायरों के लिये कोई स्थान नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति को कष्ट सहन करते हुए पराक्रमपूर्वक जीवन-यापन करना चाहिये।

कायर व्यक्तियों में न तो नैतिक बल होता है और न मानसिक बल। उनका हृदय सदा काँपता रहता है। ऐसे साधक साधना-पथ में आने वाली विघ्न-बाधाओं से सदा भयभीत रहते हैं। प्रथम तो वे इस दुस्तर मार्ग पर कदम रख ही नहीं पाते और अगर रखते हैं तो छोटे-छोटे परिषहों से घबरा-कर तुरन्त उसका त्याग कर देते हैं।

अज्ञान के कारण वे मृत्यु से भयभीत हो जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि भयभीत होने पर भी मृत्यु तो अनिवार्य है। अतः एक जन्म की मृत्यु का भय न करके जन्म-जन्म की मृत्यु से छुटकारा पा लिया जाय।

मनुष्य को मुक्ति और सिद्धि पराक्रम के बिना नहीं मिल सकती— "सत्वाधीना हि सिद्धयः।"

मनुष्यभव में ही विशेष विवेक प्राप्त होता है अतः जो व्यक्ति पराक्रमपूर्वक कषायादि विकारों को परास्त कर देते हैं, इन्द्रियों को जीत लेते हैं, वे इस मानव-शरीर से ही मुनिपद प्राप्त करके षष्ठ आदि उच्च गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति तृप्ति के अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं और परलोक में भी परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

किन्तु जो पराक्रमहीन पुरुष इन्द्रियों को और मन को जीत नहीं पाते, उलटे स्वयं उनके दास बन जाते हैं, वे जन्म-जन्मान्तर में भी संसारभ्रमण से छुटकारा नहीं पा सकते। उन्हें अनन्तकाल तक जन्म लेना और मरना पड़ता है।

इसलिये जो पुरुष अपने भविष्य का निर्माण करना चाहते हैं, जीवन को उन्नत बनाना चाहते हैं, उन्हें पराक्रमपूर्वक उसके निर्माण में जुटे रहना चाहिये। पराक्रम और उसपर विश्वास दोनों ऐसे सम्बल हैं जिन्हें साथ लेकर चलने से मार्ग की बाधाएँ स्वयं ही दूर हो जाती हैं। जीवन का उद्देश्य उच्चतर स्थिति का निर्माण करना होना चाहिये। भय सदा उन्नति में बाधक होता है अतः उसका त्याग करना अनिवार्य है।

सज्जनो ! आज मैंने आपको जीवन को उन्नति की ओर ले जाने वाली छः अनिवार्य बातें बताई हैं। उन्हें जीवन में उतारने पर ही आपका जीवन निरन्तर प्रगति की ओर जा सकता है। आप सभी में अनन्त शक्ति है पर उसे समझने की आवश्यकता है।

आपको जो कुछ भी आज प्राप्त है उसकी नींव पर अपने जीवन को ऊँचा बनाने का प्रयत्न करिये। कोई कारण नहीं है कि आप अपने प्रयत्न में असफल हों। समय का प्रवाह अनवरत बहता है। एक क्षण के लिये भी नहीं रुकता, लाख प्रयत्न करने पर भी मुड़ता नहीं। इसलिये एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर हमें इसी क्षण से, अविलम्ब, अपने जीवन को सफल तथा उन्नत बनाने का कार्य आरम्भ कर देना चाहिये।

कार्यारम्भ करने के लिये प्रत्येक पल शुभ मुहूर्त्त है। 'कल' एक राक्षस है जिसने सैकड़ों प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को उदरस्थ कर लिया है। इसके तेज पंजे उनकी असंख्य योजनाओं का गला घोंट चुके हैं। इसलिये हमें और आपको इसका तिरस्कार करते हुए समर्थ व कर्मठ बनकर दृढ़तापूर्वक आज ही जीवन की ऊँचाई के उच्चतम शिखर की ओर अग्रसर होना चाहिये।

हमें विश्वास रखना चाहिये कि अनन्त शक्तियों का स्रोत हममें ही छिपा हुआ है। इसलिये इस स्रोत को न रोककर हमें अनवरत स्वच्छ जल की तरह बहने देना चाहिये। तभी हमारी आत्मा निर्मल होकर परमात्मपद की ओर अग्रसर हो सकेगी।

[१३]

अद्भुत शक्ति : विनय

प्रत्येक साधक अपनी आत्मा को पवित्र और शुद्ध बनाना चाहता है, क्योंकि आत्मा जब शुद्ध हो जाती है तो हलकी बन जाती है और अपने हलकेपन के कारण ऊंची उठ सकती है।

एक तुंबी पर अगर हम मिट्टी चढ़ाकर उसे जल में डाल दें तो जब तक मिट्टी तूँबी पर रहेगी तुंबी जल में डूबी रहेगी किन्तु मिट्टी जब गलकर बह जाएगी तो तुंबी अपने हलकेपन के कारण जल के ऊपर आ जाएगी।

आत्मा पर भी राग, द्वेष, क्रोध तथा कषायादि जब हावी हो जाते हैं तो वह अत्यन्त भारी हो जाती है और कलुषता रूपी मिट्टी उसे अत्यन्त वजनदार बनाए रखकर भव-सागर में डुबाये रखती है। किन्तु जब धर्मरूपी जल आत्मा की इन समस्त मलिनताओं को गला देता है तो वह स्वतः ऊपर उठने लगती है और परमात्म-रूप हो जाती है।

अब हमें यह विचार करना है कि जिस धर्म-रूप-जल का मैंने उल्लेख किया है वह धर्म क्या है, और उसका आधार क्या है ? तथा किस प्रकार धर्म को अपनाया जा सकता है ?

धर्म अनेक हैं और सभी की मान्यताएं भिन्न हैं, किंतु कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें सभी धर्म एक स्वर से महान् कहते हैं। विनय भी उनमें से एक है। संसार के सभी धर्म विनय की महत्ता को मानते हैं तथा उसे धर्म का आवश्यक अंग ही नहीं वरन् धर्म का मूल भी कहते हैं। जैन धर्म में विनय को अत्यन्त विराट् रूप दिया गया है, यहाँ तक कि साधना के प्रत्येक आचार-विचार को विनय के अन्तर्गत बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि विनय के बिना कोई आचार-विचार टिक नहीं सकता और साधक कभी भी अपने साधना-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। जिस साधक के हृदय में विनय नहीं होता उसके हृदय में धर्म भी अपना स्थान नहीं बना पाता। धर्म का मूल ही विनय है। जैन शास्त्रों ने विनय की बड़ी महिमा बताई है। कहा है :—

एवं धम्मस्स विणाओ, मूलं परमो से मुक्खे ।
जेण कित्ति सुअं सिग्धं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥

अर्थात्—विनय धर्म का मूल है और मोक्ष उसका सर्वोत्तम फल है। विनय से कीर्ति बढ़ती है तथा प्रशस्त श्रुतज्ञान का लाभ होता है।

जिस प्रकार जड़ के विना वृक्ष नहीं टिकता उसी प्रकार विनय के विना धर्म भी स्थित नहीं रह सकता। जैसे मूल के द्वारा सम्पूर्ण वृक्ष का पोपण होता है उसी तरह विनय के द्वारा धर्म का आविर्भाव तथा पोपण होता है। अगर पेड़ की जड़ निकाल दी जाए अथवा वह सड़ जाए तो वृक्ष नप्ट हो जाता है, उसी प्रकार विनय के निकल जाने पर धर्म चला जाता है। इसके दूपित होने पर धर्म भी दूपित हो जाता है। मूल ताजा और हरा-भरा रहे तो वृक्ष फलता-फूलता है तथा हृदय में विनय जागृत रहे तो धर्म भी कायम रहता है।

जिस मनुष्य के जीवन में विनय का अभाव होता है उसके अंगीकार किये हुए व्रत-नियम भी धीरे-धीरे नप्ट हो जाते हैं, जल के विना कमल कायम नहीं रह सकते। इसके विपरीत, अगर हृदय में विनय विद्यमान रहता है तो आत्मा का क्रमशः उत्थान होता जाता है। किस प्रकार आत्मा का उत्थान होता है और विनय आत्मा को किन-किन श्रेणियों में से ले जाता हुआ कहाँ तक पहुँचा देता है, यह हमारे आचार्यों ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से समझाया है :—

विनयफलं शुश्रूपा, शुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरति-विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥
संवरफलं तपोवलमथ तपसो निर्जरा फलं इष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥
योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात् कल्याणां, सर्वेषां भाजनं विनयः ॥

अर्थात्—जो साधक विनयवान् होगा वह अपने गुरु की सेवा सम्पूर्ण अन्तःकरण से करेगा। उस हार्दिक सेवा तथा आज्ञा का पालन करने से उसे श्रुतज्ञान की प्राप्ति सम्यक् रूप से होगी। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होने से चारित्र की प्राप्ति

होगी औरचारित्र की प्राप्ति होनेसे आश्रव नहीं होगा, यानी नवीन कर्मोके आने का मार्ग बन्द हो जाएगा। दूसरे शब्दोंमें संवर होगा । संवर होने से दृढ़ तपोवल प्राप्त होगा । उस तपोवल के द्वारा पूर्व कर्मों की निर्जरा होती चली जाएगी । और जब पूर्व में बंधे हुए कर्मो का क्षय हो जाएगा तो आत्मा कर्मरहित दशा को प्राप्त कर लेगी । कर्म-रहित दशा अयोगी कहलाती है । उस समय मन, वचन और काय (शरीर) के समस्त व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं और वह स्थिति प्राप्त हो जाने पर भव-परम्परा नष्ट हो जाती है अर्थात् जन्म और मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। जन्म-मरण समाप्त होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है । इस प्रकार एक विनय गुण के द्वारा उत्तरोत्तर आत्मा कर्मो के भार से हल्की होती हुई सिद्ध गति को प्राप्त होती है ।

एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी विनय को ही ईश्वर की प्राप्ति का एक मात्र साधन माना है । उसने तो यहाँ तक कहा है :—

There is but one road to lead us to God,-humility, all other ways, would only lead astry, even were they fenced in with all other virtues."

—Boileam

अर्थात् विनय ही एक ऐसा मार्ग है जो हमें ईश्वर तक पहुँचाता है। अन्य समस्त मार्ग चाहे वे दूसरे अनेक गुणों से युक्त हों, हमें पथभ्रष्ट कर देंगे ।

वास्तव में विनय एक ऐसा गुण है जिसके कारण मनुष्य झुकता हुआ भी लोगों की दृष्टि में ऊंचा उठता जाता है। इसके विपरीत कोई मनुष्य विद्वत्ता. धन-वैभव तथा परिवार आदि कीं दृष्टि से कितना भी ऊंचा क्यों न हो किन्तु विनय गुण से अगर वह रहित है और अहंकार से परिपूर्ण है तो लोगों की दृष्टि में नीचा होता जाता है, गिरता जाता और अंत में कष्ट पाता है । वड़े विशाल और ऊंचे पेड़, जो झुक नहीं सकते, पवन का प्रकोप होते ही उखड़कर गिर जाते हैं किंतु अंधड़ आते ही छोटा सा घास का पौधा जो झुक जाता है, अपनी नम्रता के कारण आत्मरक्षा कर लेता है ।

विनयी पुरुप ही जन-समाज का मार्ग-दर्शक होता है तथा धर्मरक्षक भी । महात्मा आगस्टाइन से किसी से एक वार पूछा कि धर्म का सर्व-प्रथम एवं मुख्य लक्षण कौनसा है ?

आगस्टाइन ने अविलम्ब उत्तर दिया—धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा और अधिक क्या कहूं सभी लक्षण सिर्फ विनय गुण में ही निहित हैं।

बंधुओ ! इस कथन से आप यह न समझें कि सिर्फ धर्माराधन में ही विनय-गुण आवश्यक है। वह तो आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों क्षेत्रों में आवश्यक और लाभकारी है। इसीलिए शास्त्रों ने विनय के कुछ विभिन्न रूप बताए हैं। यथा—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय कायविनय और लोकव्यवहार-विनय।

इनमें सर्वप्रथम हैं 'ज्ञान विनय'। प्रत्येक ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक साधक को ज्ञान का माहात्म्य समझ कर उसपर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञानाराधक के लिये दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि वह ज्ञान के समस्त साधनों का सम्मान करे। भगवान् के वचनों पर तथा शास्त्रों पर पूर्ण विश्वास रखे। शास्त्र मनुष्य की आत्मा के नेत्र हैं जिनके द्वारा वह अपने हित और अहित को देखता है, उनका विवेक प्राप्त करता है। हितोपदेश में कहा गया है—**"सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यंध एव सः।"** शास्त्र सबके लिए नेत्र के समान हैं। जिसे शास्त्र का ज्ञान नहीं होता वह अन्धे के समान है।

दूसरी बात ध्यान में रखने की यह होती है कि शास्त्रों का ज्ञान तथा आत्म-कल्याणकारी अन्य समस्त विषयों का ज्ञान गुरु से प्राप्त किया जाता है। अत: साधक अत्यन्त नम्रतापूर्वक गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उनसे ज्ञान प्राप्त करे। गुरु का महत्त्व जीवन में माता-पिता से भी अधिक होता है। माता-पिता संतान को जन्म देते हैं, उसका यथोचित पालन-पोषण करते हैं। किन्तु मानव-जन्म का फल, जो अंत में मुक्ति प्राप्त करना होता है, उसका मार्ग तो गुरु ही बताते हैं। कबीर ने तो गुरु को ईश्वर से भी बढ़कर माना है, यह बताते हुए कि ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग गुरु ही बताते हैं। उन्होंने कहा है :—

गुरु साहब दोनों खड़े काके लागूं पांय ?
बलिहारी गुरु आपकी जिन साहब दियो बताय ॥

सारांश यही है कि जिस दिव्य-ज्ञान को प्राप्त करके साधक दिव्य-दृष्टि प्राप्त करता है वह गुरु से प्राप्त होता है। अत: गुरु का अत्यन्त सम्मान करते

हुए उसे ज्ञान-लाभ करना चाहिये। गुरु की अवज्ञा, निंदा तथा अनादर करने वाला शिष्य कभी भी सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता। अविनीत शिष्य गुरु को अप्रसन्न कर देते हैं, परिणामस्वरूप गुरु अपने सर्वान्तःकरण से शिष्य को ज्ञान-दान नहीं दे पाते। कहा गया है:—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलिअस्सं व वाहए॥

—उत्तराध्ययन अ. १ गा. ३७

अर्थात् जिस प्रकार उत्तम घोड़े का शिक्षक प्रसन्न होता है उसी प्रकार विनीत शिष्य को ज्ञान देने में गुरु भी प्रसन्न होते हैं। उद्दंड घोड़े का शिक्षक और अविनीत शिष्य के गुरु, दोनों ही अत्यन्त दुखी होते हैं।

इसलिए साधक को विनयपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। ज्ञान वह अग्नि है जिसके सुलगते ही समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं। एक विद्वान् ने कहा है—

Knowledge is the wing where with we fly to heaven.

अर्थात् ज्ञान वह पंख है जिसके द्वारा हम स्वर्ग की ओर उड़ते हैं।

विनय का दूसरा रूप 'दर्शन विनय' है। इसका आशय है अपने सम्यग्-दर्शन को निर्मल रखना, उसमें अतिचार न लगने देना, सम्यग्दृष्टि पुरुषों का यथायोग्य सत्कार-सम्मान करना और यथोचित सेवा-भक्ति करके उन्हें प्रसन्न करना।

महान् पुरुषों के प्रति विनय होने से जीवन में सरलता आती है और हृदय पवित्र बनता है। इसके विरुद्ध महापुरुषों की निंदा अथवा भर्त्सना करने से आत्मा मलिन होती है और कभी-कभी स्वयं भी निंदा का पात्र बनकर लज्जित होना पड़ता है। जिसमें नम्रता नहीं होती वह शीघ्र उत्तेजित होकर औचित्य को भूल जाता है और अनुचित भाषा का प्रयोग करता है।

एक ब्राह्मण गौतम बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु बन गया। ब्राह्मण का एक संबंधी इससे बहुत नाराज हुआ। वह बुद्ध के पास गया और उन्हें गालियाँ देने लगा। जब वह गालियाँ देकर चुप हुआ तो तथागत ने उससे पूछा—क्यों बन्धु! तुम्हारे घर कभी अतिथि आते हैं? और आते हैं तो तुम उनका

सत्कार करते हो या नहीं ?

व्यक्ति क्रोधपूर्वक बोला—अतिथि का सत्कार कौन मूर्ख नहीं करता होगा। मैं तो करता ही हूँ।

बुद्ध ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक फिर कहा—मान लो तुम्हारी दी हुई वस्तुएं अतिथि स्वीकार न करे तो वे कहाँ जाएंगी ?

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—जाएंगी कहाँ ? अतिथि नहीं लेगा तो वे मेरे पास ही रहेंगी।

तथागत ने अब कहा—तो भद्र ! तुम्हारी दी हुई गालियाँ भी मैं स्वीकार नहीं करता। यह सुनकर ब्राह्मण अत्यंत लज्जित हुआ और मस्तक झुका कर चुपचाप वहाँ से चला गया।

कहने का अर्थ यही है कि अगर ब्राह्मण में विनयशीलता होती तो वह गालियाँ देकर बुद्ध को अपमानित नहीं करता और अंत में स्वयं भी लज्जित होना नहीं पड़ता। महापुरुषों की संगति और सेवा का प्रभाव जीवन को बदल देता है, अगर मनुष्य की आकांक्षा जीवन को बनाने की हो।

किसी व्यक्ति ने गुरुदत्त विद्यार्थी से एक बार कहा—आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के संपर्क में बहुत दिनों तक रहे हैं तो क्यों नहीं उनका जीवन-चरित्र लिख डालते ?

विद्यार्थीजी ने उत्तर दिया—मैं उनका जीवन-चरित्र लिखने की कोशिश कर रहा हूँ।

व्यक्ति ने प्रसन्न होकर कहा—अच्छा ! कबतक पूरा हो पाएगा वह ?

गुरुदत्त जी ने कहा—उनका जीवन-चरित्र कागज पर नहीं किन्तु अपने स्वभाव में अंकित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

कितनी सुन्दर भावना है ! विनय का यही फल होना चाहिये कि हम जिसे अपना आदर्श मानते हैं उसके जीवन का अनुकरण करें। सेवा शुश्रूषा तथा कोरी प्रशंसा ही मनुष्य को क्या लाभ पहुँचा सकती है ?

विनय का तीसरा रूप 'चारित्र विनय' है। स्वयं चारित्रनिष्ठ बनना, निर्दोष चारित्र का पालन करना एवं चारित्रनिष्ठ महापुरुषों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा, सम्मान तथा सेवा की भावना रखना चारित्रविनय है। साधना के

इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम अपना आचार-विचार अत्यन्त शुद्ध बनाना चाहिये। इसकी शिक्षा आचारनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त होती है।

कोई मनुष्य कितना भी ज्ञान प्राप्त कर ले, शास्त्रों का अध्ययन कर ले किन्तु जो अपने ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता है वस्तुतः वह विद्वान् नहीं माना जा सकता। मनुष्य का सच्चा [illegible] उसका आचरण ही होता है। कहा भी है—

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्र्यमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्॥

—वाल्मीकि

अर्थात् मनुष्य का आचरण ही यह बताता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर, और पवित्र है या अपवित्र।

तात्पर्य यह कि सदाचार ही मानव-जीवन की सुगन्ध है, जिसके बिना जीवन का कोई मूल्य नहीं होता। मनुष्य पद-पद पर लांछित, अपमानित और घृणित बन जाता है। शरीर की सुन्दरता का सुन्दर आचरण के बिना कोई मूल्य नहीं होता। कहा जाता है कि, A beautiful behaviour is better than a beautiful form यानी, सुन्दर आचरण सुन्दर आकृति से अच्छा है।

जैसे तलवार की कीमत उसकी म्यान से नहीं होती, उसी प्रकार मनुष्यजीवन की कीमत मनुष्य के शरीर से नहीं होती। तलवार का मूल्य उसके पानी से होता है और मनुष्यजीवन का मूल्य सदाचार से। मनुष्य के पास धन, वैभव, सौन्दर्य आदि सब कुछ हो किन्तु सदाचार न हो तो समझना चाहिये कि उसके पास कुछ भी नहीं है।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपने चरित्र की उत्तमता से ही महापुरुष माने गए हैं। भविष्य में जो महान् माने जाएंगे वे भी चारित्र की उत्तमता से ही माने जाएंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। सूत्रकृतांग सूत्र में कहा है—

अभविसु पुरा वि भिक्खवो,
आएसा वि भवंति सुव्वता।

एमाइं गुणाइं आहु ते,
कासवस्स अणुधम्म चारिणो ।।

सूयगडांग, २-३-२०

अर्थात् जो जिनेश्वर पहले हो चुके हैं और जो भविष्य में होंगे वे सब सुव्रती (सदाचारी) थे। सुव्रती ही जिनेश्वर हुए और होंगे। क्योंकि वे काश्यप भगवान् यानी महावीर स्वामी के धर्म का आचरण करते थे।

सम्यक्चारित्र के अभाव में कोरा ज्ञान भाररूप होता है 'ज्ञानं भार: क्रियां विना।' नेत्रों से सर्प को देख लिया जाय और उसे विषैला समझ लिया जाय किन्तु उससे बचने का प्रयत्न न किया जाए तो देखना और जानना किस काम आया ? औषधि के ज्ञान मात्र से आरोग्यता प्राप्त नहीं होती जब तक उसका सेवन न किया जाय। अतएव ज्ञान के साथ आचरण आवश्यक है।

प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिये साधना रूपी मार्ग का ज्ञान होना आवश्यक है किन्तु मार्ग को जान लेने मात्र से ही तो लक्ष्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। वहाँ तक पहुंचने के लिये उस मार्ग पर चलना भी पड़ेगा। मनु महाराज ने भी सदाचार की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिता: प्रजा:।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।

—मनुस्मृति (४, १५६ ७)

सदाचार से दीर्घायु की प्राप्ति होती है। सदाचारी की सन्तान भी सदाचारी होती है। सदाचार से अक्षय धन की प्राप्ति होती है और अलक्षण से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट को भी सदाचार नष्ट कर देता है।

वस्तुत: सदाचार की महिमा सर्वत्र गाई गई है और इसे ही प्रथम धर्म (आचार: प्रथमो धर्म:) माना गया है। इसलिये मनुष्य को चारित्र-विनय अपनाते हुए अपने आचरण को अत्यन्त श्रेष्ठ बनाना चाहिये। चारित्रनिष्ठ व्यक्तियों की संगति करते हुए उन महापुरुषों के प्रति पूर्ण आदरभाव रखना चाहिये जिससे आचरण उत्तम तथा पवित्र बन सके।

'चारित्रविनय' के पश्चात् 'मन-विनय' का स्थान है। मन-विनय का

तात्पर्य है, मन में विनयभाव रखना तथा उसे अत्यन्त पवित्र बनाने का प्रयत्न करना। राग-द्वेष आदि विकारों की कलुषता से मन को अपवित्र न होने देना तथा जिससे मन के विकारयुक्त बन जाने की सम्भावना हो ऐसे वातावरण से अलग रहना। यह सब मन विनय है। मन का स्वभाव है कि वह जैसी संगति में रहता है, उसे जैसा वातावरण मिलता है, उसके अनुसार ही वह रूप धारण कर लेता है और वैसी ही मन की भावनाएं बन जाती हैं। कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—

> **जो मन नारी की ओर निहारत,**
> **तो मन होत है ताही को रूपा।**
> **जो मन काहू से क्रोध करे तब,**
> **क्रोधमयी हो जाय औ रूपा॥**
> **जो मन माया ही माया रटे,**
> **नित मन बूड़त माया के कूपा।**
> **सुन्दर जो मन ब्रह्म विचारत,**
> **तो मन होत है ब्रह्म सरूपा॥**

बंधुओ! आशय आप समझ गए होंगे। मनुष्य जो कुछ देखता है, जैसी संगति में रहता है और जो कुछ सोचता है उसी तरह का बन जाता है। 'चारित्र विनय' के अन्तर्गत मैंने अभी अभी आपको इसीलिये चारित्रनिष्ठ महापुरुषों की संगति करने, उनके प्रति आदर तथा श्रद्धा रखने के लिये कहा था। जीवन को उच्च, पवित्र तथा समतामय बनाने के लिये इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है। मन उन सबका नेता है। अत: उसे वश में करना मनुष्य का दुस्तर कार्य है। किन्तु जब तक मन वश में नहीं होगा, इन्द्रियाँ भी वश में नहीं हो सकतीं। किन्तु मन वश में हो जाता है तो सभी आत्मिक शत्रुओं को वश में किया जा सकता है। शास्त्र में कहा भी है—

> **एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।**
> **दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं॥**

—उत्तराध्ययन सूत्र, (२३-३६)

अर्थात् एक मन को जीत लेने पर पाँच इन्द्रियों को जीत लिया जाता है और पाँचों इन्द्रियों को जीत लेने पर दस (एक मन पाँच इन्द्रियाँ तथा चार

कषाय) जीत लिये जाते हैं। और इन दसों को जिसने जीत लिया उसने मानों सभी आत्मिक शत्रुओं को जीत लिया।

शरीर से जो धर्मकृत्य किया जाता है उसके साथ मन भी उसी प्रकार का होना आवश्यक है। उसके सहयोग के बिना सुन्दर आचरण और कार्य निरर्थक हो जाते हैं। क्योंकि पापों का मूल वस्तुतः मन ही है। मन में वासनाएं और पाप होने पर और उसके अनुसार क्रियाएं न होने पर बाहर की क्रिया दिखावा मात्र रह जाती है।

मन की अवस्था के कारण ही एक मनुष्य सज्जन कहलाता है और दूसरा दुर्जन। जिसका मन सद्गुणों से भरा हुआ है और विकारों से रहित है उसे तीव्र तपस्या तथा उत्कट साधना की भी आवश्यकता नहीं होती। वह मानसिक शुद्धि के सहारे अपने उच्च लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है। किन्तु जब तक मन चंचल और विकारों से परिपूर्ण रहता है तब तक मनुष्य किसी उत्तम फल को प्राप्त नहीं कर सकता। जो मनुष्य अपने मन को वश में कर लेता है उसका मन कैसी भी विपत्ति या कठिनाइयाँ क्यों न आएं कभी विचलित नहीं होता। मारणांतिक कष्ट होने पर भी वह समभाव में स्थिर रहता है और कष्ट देने वाले को क्षमा कर देता है।

कहते हैं—सुकरात बड़े सत्ययक्त और स्पष्टवक्ता थे। एक बार उनकी स्पष्टवादिता पर किसी ने उन्हें पीट दिया किन्तु सुकरात के चेहरे पर शिकन भी नहीं आई। एक व्यक्ति ने चकित होकर कहा—आप मार खाकर भी चुप रह गए?

सुकरात ने जवाब दिया—अगर गधा मुझे लात मारे तो क्या मैं भी उसे लात मारूं?

स्वामी दयानन्द को किसी ने विष दे दिया। उनके मुसलमान भक्त सैयद मुहम्मद तहसीलदार को जब इस बात का पता चला तो उसने जहर देने वाले को पकड़ मँगाया। दयानन्द के पास उसे लाया गया तो उन्होंने कहा—इसे छोड़ दो। मैं दुनिया में लोगों को कैद कराने नहीं, छुड़ाने आया हूं।

इन उदाहरणों से मालूम हो जाता है कि जो महापुरुष मन को वश में कर लेते हैं उनके मन से वैर-विरोध तथा क्रोध कषायादि दूर हो जाते हैं। सारा संसार उन्हें आत्मवत् दिखलाई देने लगता है। यह मन की शुद्धि का

ही चमत्कार है। मन के पवित्र होने पर आचरण में भी पवित्रता आ जाती है। इसलिये विनय, चारित्र और मन दोनों क्षेत्रों में होना चाहिये। शरीर और मन दोनों ही एक-दूसरे के सहायक हैं और प्राय: साथ-साथ ही पाप तथा पुण्य कर्मों के निमित्त बनते हैं। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है।

कहते हैं—एक बार शरीर और मन में बहस छिड़ गई। शरीर क्रोध से आग बबूला होकर बोला—मैं तो जड़ हूं, मिट्टी का पिण्ड मात्र, मोह पैदा करने वाली चीजों को देख भी नहीं सकता। भला मैं पाप कैसे कर सकता हूं ?

मन पीछे क्यों रहता। वह भी तमक कर बोला—मेरे पास पाप करने के साधन ही नहीं है, मैं पाप कैसे कर सकता हूं ? इन्द्रियों के बिना भी क्या कोई कार्य हो सकता है ?

जब भगवान् ने यह सब सुना तो वे मुसकरा दिये और बोले—ठीक है, तुम दोनों अलग अलग रहकर पाप नहीं करते किन्तु दोनों मिलकर पाप करते हो अत: दोनों ही बराबर जिम्मेदार हो ! शरीर के कंधों पर जब मन चढ़ बैठता है तब दोनों के सहयोग से पाप का जन्म होता है। मन शरीर को चलाता है और शरीर मन को संतुष्ट करता है।

इसीलिये कहते हैं कि आध्यात्मिक साधना करने वाले को सतत अभ्यास के द्वारा मन की गति का सूक्ष्म अवलोकन करते हुए अत्यन्त सावधानी से उसपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। मन को विषय-विकारों से विमुख करके उसे पवित्र बनाने का यत्न करना चाहिये। मन की गति अत्यन्त तीव्र होती है और उसे जिधर लगाया जाए उधर ही तेजी-से भागता है। इसलिये इसे सन्मार्ग की ओर उन्मुख करना चाहिये, तभी यह सही शुभ फल प्रदान कर सकता है। उसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों ही आचरण किये जा सकते हैं। कहा भी है—

कबिरा मन तो एक है, भावे तहां लगाय।
भावे हरि की भक्ति कर, भावे विषय कमाय ॥

अब हम देखेंगे कि 'वचन-विनय' क्या है ? वचन में विनय होने का आशय है—अप्रिय, कटुक कठोर तथा मिथ्या वचनों का परित्याग करना और हितकारी सत्य तथा मधुर वचनों का उच्चारण करना। वचन सत्य होने पर

भी उसमें कटुता नहीं होनी चाहिये। मधुर वचनों का प्रभाव कभी-कभी बड़े चामत्कारिक ढंग से वातावरण में परिवर्तन ला देता है। मनुष्य मरते-मरते भी जीवन पा जाता है।

कहते हैं एक बार यूनान के बादशाह बीमार पड़ गए। कोई भी इलाज उन्हें लागू नहीं हुआ। अन्त में कुछ हकीमों ने मिलकर यह निर्णय दिया कि अमुक-अमुक लक्षणों वाले व्यक्ति का कलेजा मिले तो बादशाह की जान बचाई जा सकती है।

राज-कर्मचारी चारों ओर दौड़ाए गए और वे अंत में एक लड़के को ढूंढ़ कर ले आए। लड़के के माता-पिता बड़े गरीब थे। उन्होंने काफी धन लेकर अपने पुत्र को बलिदान के लिये दे दिया। शहर के काजी ने भी कह दिया कि बादशाह की जान बचाने के लिये किसी की भी जान लेना गुनाह नहीं है।

लड़का बादशाह के सामने लाया गया। हकीमों ने अपनी तैयारियाँ कर लीं और फिर जल्लाद ने तलवार उठाई। अचानक उसी समय लड़का आसमान की तरफ देखकर हंस पड़ा। बादशाह ने यह देखा तो चकित हुए और इशारे से जल्लाद को रोकते हुए उन्होंने लड़के से पूछा—लड़के! तुम हंसे क्यों?

लड़का विनयपूर्वक बोला—जहाँपनाह, सन्तान के लिये प्राणों की भी परवाह न करने वाले माता-पिता ने मुझे मारे जाने के लिये बेच दिया। काजी ने भी जो न्यायमूर्ति कहलाते हैं, एक बे-गुनाह को मारे जाने का फतवा दे दिया। प्रजा के रक्षक बादशाह अपने सामने ही एक निर्दोष बालक की हत्या करवा रहे हैं। यह सब देखकर अब मैं संसार के मालिक की ओर देख कर हंसा कि—भगवन्! संसार की लीला तो देख ली! अब तेरी लीला देखनी है कि जल्लाद की इस उठी हुई तलवार से मेरे वध को तू भी सही मानता है क्या?

बच्चे के विनययुक्त और माधुर्य से भरे हुए वचनों को सुनकर बादशाह की आँखें खुल गईं। उन्होंने बालक को हृदय से लगाते हुए कहा—बेटे! अब यह तलवार तेरे जिस्म पर नहीं उठेगी।

कहा जाता है कि बादशाह के हृदय में इस घटना की ऐसी प्रतिक्रिया

हुई, ऐसे माधुर्य से उसका हृदय आप्लावित हो गया कि वह बिना दवा के ही विलकुल स्वस्थ हो गया।

मधुर वचन इतने प्रभावशाली होते हैं कि वे दुश्मन को भी मित्र बना लेते हैं। जीवन लेने वाले को जीवन-दाता बना देते हैं। इसके विपरीत कटु-वचन घर में, परिवार में, समाज में, राष्ट्र में वैर-विरोध उत्पन्न कर देते हैं। वाणी के इस अद्भुत प्रभाव को कवि सुन्दरदास ने बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है :—

वचन तें गुरु-शिष्य बाप पूत प्यारो होय,।
वचन तें बहुविधि होत उत्पात हैं।
वचन तें नारी औ पुरुष में नेह अति
वचन तें दौड़ आप आप में रिसात हैं।
वचन तें सब आय राजा के हजूर होंएँ
वचन तें चाकर हू छोड़ के पलात हैं।
सुन्दर सुवचन सुनत अति सुख होय
कुवचन सुनत ही प्रीति घट जात है॥

ऐसा होता है वचनों का चमत्कार! वचन के अद्भुत कारनामों का वर्णन करना बड़ा कठिन है। इनके द्वारा सारे संसार को पक्ष में अथवा विपक्ष में किया जा सकता है। नम्रता और विनयपूर्ण वचन मनुष्य को जीती-जागती प्रेम और दया की प्रतिमा बना देते हैं। और क्रोध तथा अहंकार युक्त वचन मनुष्य को क्रूर तथा हृदयहीन की उपाधि प्राप्त कराते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे व्यक्ति का प्रत्येक कार्य और साधना खोखली और सिर्फ दिखावे मात्र की ही रह जाती है। गर्वपूर्ण साधना से शुभ फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। गर्व साधना को भी निष्फल बना देता है।

हाजी मुहम्मद एक मुसलमान सन्त थे। वे साठ बार हज करके आए थे और हमेशा पाँचों वक्त की नमाज़ पढ़ा करते थे। एक दिन उन्होंने एक स्वप्न देखा कि एक फ़रिश्ता स्वर्ग तथा नरक के बीच में खड़ा है और वह प्राणियों को उनके कर्मानुसार स्वर्ग तथा नरक की ओर भेज रहा है।

जब हाजी मुहम्मद उसके सामने पहुँचे तो इन्हें नरक की ओर जाने

के लिए अंगुली से इशारा कर दिया। हाजी मुहम्मद को बुरा लगा। उन्होंने फ़रिश्ते से कहा—'मैंने साठ बार हज किया है।'

फ़रिश्ते ने कहा—सच है किन्तु अपना नाम पूछे जाने पर तुम बड़े गर्व से कहते रहे हो कि 'मैं हाजी मुहम्मद हूँ।' इसलिये तुम्हारा हज करने का समस्त पुण्य नष्ट हो गया।

हाजी मुहम्मद ने फिर कहा—'मैं साठ साल से पाँचों वक्त की नमाज पढ़ता रहा हूँ।'

फरिश्ता बोला—तुम्हारा वह पुण्य भी नष्ट हो गया क्योंकि एक बाहर के धर्म जिज्ञासु तुम्हारे पास आए थे। उस दिन तुमने उन्हें दिखाने के लिये और दिनों से भी बहुत ज्यादा देर तक नमाज़ पढ़ी थी। इस दिखावे के कारण तुम्हारा साठ वर्ष तक पाँचों वक्त नमाज़ पढ़ना भी निष्फल हो गया।

उसी समय हाजी मुहम्मद की आँख खुल गई और उन्होंने गर्व तथा दिखावे को सदा के लिये छोड़ दिया।

सज्जनो! आशय यह है कि अहंकारयुक्त वचनों की तनिक-सी मात्रा भी पुण्य-फल को नष्ट कर देती है। इसीलिये साधक या गृहस्थ कोई भी हो उसे गर्व न रखकर विनयभाव रखना परमावश्यक है। कहा भी है—

"It was pride that changed angels into devils; it is humility that markes men as angels." (अभिमान के कारण देवतादानव बन जाते हैं और नम्रता से दानवदेवता)

—आगस्टाइन

विनय का एक भेद 'काय-विनय' है। काय-विनय का अर्थ है शरीर से कोई भी पाप क्रिया न करना। मनुष्यशरीर, जीव को अनेकानेक पुण्यकर्मों के उदय से मिलता है। उसके द्वारा खोटी क्रियाएँ करना शरीर का दुरुपयोग करना है। इसके विपरीत सत्कार्यों में इसे प्रवृत्त करना शरीर का सदुपयोग है।

"सभी धर्म-कर्मों के लिये शरीर ही सबसे पहला साधन है:—शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्।" शरीर के द्वारा ही समस्त शुभ क्रियाएँ, साधना

और तपस्या की जाती है। इसलिये इन्द्रियों को वश में रखना मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। मनुष्य शरीर इस भव-समुद्र से पार होने के लिये एक नौका के समान है। इसके द्वारा ही भवसागर पार किया जा सकता है। तात्पर्य यही है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये जो कुछ भी किया जाता है वह सब शरीर के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। गांधीजी ने शरीर को आत्मा के रहने की जगह होने के कारण तीर्थ माना है पाश्चात्य विद्वान् 'नावालिस' ने कहा है—

"विश्व में केवल एक ही मन्दिर है और वह है मनुष्य-शरीर। इससे अधिक पवित्र और कोई स्थान नहीं है।"

आशय यही है कि इस शरीर रूपी मन्दिर में ही परमात्मा का निवास है, अतः इसे कुकृत्यों के द्वारा कुविचारों के द्वारा तथा दुराचरणों के द्वारा अपवित्र बनाना मनुष्य के लिये कलंक है। इस पवित्र शरीर के द्वारा कुचेण्टाएँ करने से शरीर-प्राप्ति का लाभ नहीं मिलता, उलटे जन्म-मरण की परम्परा लम्बी हो जाती है। कर्मों का बंध अधिक मात्रा में होता है। परिणामस्वरूप आत्मा भव-सागर के भँवर में डूबती उतरती रहती है, उबर नहीं पाती।

इसलिये प्रत्येक साधक को शरीर के द्वारा सच्ची साधना और तप करके कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिये, न कि कर्मों को अधिक बढ़ाने का।

सच्ची साधना और तप वही कहलाता है जो गर्वरहित होकर विनय-पूर्वक किया जाए। कहा भी गया है—

विनयेन विना चीर्णम्-अभिमानेन संयुतम्।
महच्चापि तपो व्यर्थम् इत्येतदवधार्यताम्॥

अर्थात् यह समझ लेना चाहिये कि विनय के बिना और अभिमान के साथ किया हुआ महान् तप भी व्यर्थ ही होता है।

सदाचारी और सच्चे तपस्वी के आगे देवता और इन्द्र को भी नत-मस्तक होना पड़ता है। एक छोटी-सी लोक-कथा है—

एक बार नारद ऋषि द्वारिका नगरी में आए। वे नगरी में घूम-घाम कर कृष्ण के महल में भी पहुँचे। महल में कृष्ण न मिले तो उन्होंने अंतःपुर

में प्रवेश किया। उन्हें कोई रोक-टोक तो थी नहीं, सीधे अन्दर चले गए। किन्तु वहाँ भी कृष्ण दिखाई नहीं दिये तो उन्होंने रुक्मिणी से पूछा—कृष्ण हैं कहाँ ?

रुक्मिणी ने उत्तर दिया—"पूजा में बैठे हैं।"

यह सुनकर नारदजी बड़े चकित हुए। सोचने लगे कि त्रिभुवन के ऋषि, मुनि, संत, सिद्ध, योगी, त्यागी और भोगी सभी भगवान मानकर जिनकी पूजा करते हैं, वह कृष्ण किसकी पूजा कर रहे हैं ? यह जानने के लिये वे कृष्ण महाराज के देव-गृह में पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा कि कृष्ण अपने सच्चे भक्तों की मूर्तियों के सामने ध्यानावस्था में बैठे हुए हैं !

कितनी प्रभावोत्पादक दंत-कथा है !

जो महापुरुष काम-भोगों से दूर रहकर साधना करते हैं उनके लिये क्या दुष्प्राप्य है ? कुछ नहीं। इन्द्रियों के विषयों से विरत रहकर जो शीलवान् पुरुष अपने व्रत का पालन दृढ़ होकर करते हैं वे असाध्य को भी साध्य बनाने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

सेठ सुदर्शन के शील के प्रभाव से, उन्हें जब शूली पर चढ़ाया जाने लगा तो शूली सिंहासन बन गई। कितना माहात्म्य है शील का ? शीलव्रत तो ललकारते हुए स्वयं कहता है—

शील कहे मम राखत जे, तिनकी रछिया तिन देव करेंगे।
जे मम त्याग कुबुद्धि करें, तिन देव कुपे तिन सुक्ख हरेंगे॥
ठौर नहीं तिन लोक विखे, दुःख शोक अनेक सदैव धरेंगे।
जारत हैं तिन्हि ताप तिन्हि मम धारत आरत सिन्धु तरेंगे॥

कितनी सत्य और सुन्दर महिमा है। शील कहता है कि जो पुरुष मेरी रक्षा करेगा, उसकी रक्षा देवता करेंगे। किन्तु जो दुर्बुद्धि के वशीभूत होकर मेरा त्याग करेंगे उनपर देवता कुपित होंगे और उनका सारा सुख नष्ट कर देंगे। उन्हें संसार में कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा और दुःख तथा शोक उनके हृदयों को निरन्तर दुखाते रहेंगे। तीन तापों (आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक) की आग भी उन्हें सदा दग्ध करती रहेगी।

पर इसके विपरीत जो मनुष्य मुझे धारण करेंगे, वे समस्त दुःखों के सागर को सरलतापूर्वक पार कर लेंगे।

विवेकशून्य पुरुष अपने शरीर और इन्द्रियों को वश में न रखकर मन की वहक के अनुसार ही शरीर को चलाते हैं। परिणाम यह होता है कि उन्हें वारंवार नाना प्रकार के शरीरों को धारण करना पड़ता है और पुनः पुनः जन्म और मृत्यु का दारुण दुःख भोगना पड़ता है।

विनय का अन्तिम स्वरूप, 'लोकव्यवहार विनय' है। मनुष्य जव तक संसार में शरीर धारण किये हुए रहता है, तव तक उसे अन्य प्राणियों से संपर्क रखना आवश्यक होता है। माता-पिता, गुरु, वन्धु-वान्धव, मित्र, हितैषी और अन्य सभी व्यक्ति जो भी समयानुसार सम्पर्क में आते है उन सबके साथ विनयपूर्ण व्यवहार आवश्यक है। अपने से वड़ों के प्रति जव व्यव-हार करना होता है तो विनय आदर तथा श्रद्धा के रूप में आ जाता है और अपने से छोटों के प्रति जव व्यवहार किया जाता है तो विनय वात्सल्य और प्रेम का रूप धारण कर लेता है।

विनयवान् व्यक्ति कभी दूसरों का अपकार करने का प्रयत्न नहीं करता। जहाँ तक उसकी शक्ति होती है वह भरसक दूसरों का उपकार करना चाहता है। साथ ही दूसरे जव उसका उपकार करते हैं तो वह उपकार को मानते हुए कृतज्ञता का भाव रखता है। जो व्यक्ति अभिमानवश किसी के किये गए उपकार को उपकार नहीं मानता वह मानवता के प्रति विश्वासघात करता है। और जो किसी व्यक्ति के उपकार के वदले अपकार करता है वह पापी और नीचों की श्रेणी में आता है। एक दार्शनिक ने कहा है—

"Not to return one good office for another is inhuman; but to return evil for good is diabolical."

सेनेका—

अर्थात् नेकी का वदला न देना क्रूरता है और उसका वदी में जवाव देना पिशाचता है।

अकृतज्ञ मनुष्य क्रूर और पिशाच की श्रेणी में आ जाता है। ऐसे पुरुषों से जानवर अधिक उत्तम होते हैं। वे अकृतज्ञ नहीं होते। कुत्ता भी जिसका नमक खाता है, कभी-कभी तो जान देकर भी उसकी रक्षा करता है।

महापुरुष तो अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करते हैं।

सन्त उसमानहैरी एक बार किसी गली में से जा रहे थे। एक मकान की खिड़की से किसी महिला ने बिना देखे उनपर थाली भर राख फेंक दी।

सन्त ने यह देखकर हाथ जोड़े और कहा—बहन ! धन्यवाद ! ईश्वर तुम्हारा भला करे।

एक आदमी समीप ही खड़ा था। उसने हैरत से कहा—उस स्त्री ने आपके ऊपर राख डाल दी लेकिन आप नाराज होने के बदले हाथ जोड़कर उसे धन्यवाद दे रहे हैं और उसके लिये ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं ? इसका क्या कारण है।

उसमान बोले—भाई, मैं तो आग में जलाए जाने लायक हूँ। किन्तु उस बहन ने सिर्फ राख डालकर ही मुझे बचा दिया। यह क्या मुझ पर कम उपकार किया है ?

विनयवान् मनुष्य कृतज्ञ होता है और वह दूसरों को दुःख-दर्द से तथा चिन्ताओं से बचाने का सतत प्रयत्न करता है। वह गाली-गलौज तथा कटु-भाषा के द्वारा किसी का तिरस्कार और अपमान करके दिल नहीं दुखाता। उसका प्रत्येक आचरण दूसरों को प्रिय लगने वाला होता है। अप्रिय व्यवहार का वह त्याग करता है। उसके मन, वचन तथा शरीर के द्वारा किसी का भी अहित नहीं होता। विनयी मनुष्य का व्यवहार प्रत्येक को शांति, संतोष तथा सुख प्रदान करता है। संसार का जो भी प्राणी उसके संसर्ग में आता है वह उसका हितचिंतक बन जाता है।

सज्जनो ! आज मैंने आपको विनय का माहात्म्य तथा उसका प्रभाव समझाया है। इसके अलावा विनय के विभिन्न स्वरूपों को भी विस्तारपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया है। इसमें विनय के सभी अंगों का समावेश हो जाता है।

बुद्धिमान् तथा आत्म-हितैषी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे विनय के स्वरूप को, महत्त्व को और फल को सम्यक् प्रकार से समझ कर उसका आचरण करें। उसके द्वारा ही वे इस लोक में प्रशंसा और परलोक में मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं।

[१४]

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

यजुर्वेद में कहा गया है "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।" अर्थात् मेरे मन के संकल्प शुभ एवं कल्याणकारी हों।

प्रत्येक भव्य जीव के हृदय में यही कामना होती है। मानव-शरीर जो नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है, वे सब उसके आन्तरिक विचारों का ही फल होती हैं। जिह्वा से प्रस्फुटित होने वाला प्रत्येक वाक्य विचारों की ही प्रतिमूर्ति है। मन के विचार ही वाणी और काया का संचालन करते हैं। किसी पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है :—

"As you think so shall you be"—जैसे तुम्हारे विचार होंगे, वैसे ही तुम बनोगे।

यह कथन शत-प्रतिशत सत्य है। मनुष्य जैसे विचार करेगा, जैसा संकल्प करेगा, वैसा ही उसके जीवन का निर्माण होगा। संकल्प में बहुत बड़ी शक्ति होती है। इसलिये मानव का समग्र जीवन उसके संकल्प का ही फल माना जाता है। शुभ संकल्पों के कारण मनुष्य राम बनता है और अशुभ संकल्पों के कारण रावण बन जाता है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है :—

संकल्पमूलः कामो यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
वृतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

अर्थात्—सभी कामनाओं का मूल संकल्प ही होता हैं। सभी शुभ कार्य संकल्प से ही सिद्ध होते हैं। तथा सभी व्यवहार सत्य, अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्य आदि धर्म-संकल्प से ही उत्पन्न और सिद्ध होते हैं।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य संकल्प से ही उन्नत बनता है और संकल्प से ही अवनत भी होता है। अच्छे संकल्पों के कारण मनुष्य परिवार में, समाज में और राष्ट्र में अपना उच्च स्थान बनाता है। उसका जीवन गौरवमय तथा दूसरों के लिए आदर्शरूप बनता चला जाता है।

किन्तु अशुभ और हीन संकल्पों के कारण मनुष्य का जीवन पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। वह मनुष्यता खो वैठता है और अंत में अपने काले कारनामों के कारण संसार में, निंदा, घृणा तथा उपहास का पात्र बन जाता है। वह जहाँ भी निवास करता है वहाँ के वातावरण को कलुषित बना देता है और स्वभावतः ही अन्य व्यक्ति उससे कतराने लगते हैं, और उससे बचने की कोशिश करते हैं।

संकल्प-शक्ति मनुष्य की एक महान् शक्ति है। जीवन संकल्पों के बिना नहीं चल सकता किन्तु आवश्यकता होती है उन्हें शुभ और शुद्ध बनाने की। हमें ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हमारे संकल्प हमारे मन को निर्मल और उच्च बना रहे हैं या नहीं ? काम, क्रोध, विषय, कषायादि जो हमारे हृदय की पवित्रता को नष्ट करने वाले शत्रु हैं, उनसे लड़ने की शक्ति हमें दे रहे हैं या नहीं ? अगर ऐसा नहीं है तो हमारे संकल्प व्यर्थ हैं। और व्यर्थ ही नहीं, वरन् हमें पतन के अन्तिम छोर तक पहुँचाने वाले भयानक साधन हैं।

हमारे शास्त्रों में शुभ संकल्पों तथा अशुभ संकल्पों के विषय में गहरा विवेचन किया गया है। संकल्प भी मन के वाहन हैं जिनपर सवार होकर वह शुभ और अशुभ कृत्य किया करता है। अपनी संकल्प-शक्ति के द्वारा ही वह शुभ और अशुभ कर्मों का बंधन करता है। कहा भी है :—

> मनसा कल्प्यते बन्धो,
> मोक्षस्तेनैव कल्प्यते।
>
> —विवेकचूड़ामणि

अर्थात्-जिस मन की शक्ति द्वारा कर्म का बंधन किया जा सकता है, उसी मन की शक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

जब मनुष्य के हृदय में शुभ संकल्प आते हैं, उस समय उसकी मनुष्यता जागृत हो जाती है और उसके हृदय में ईश्वरीय शक्ति पैदा हो जाती है। वह शक्ति शरीर को नियंत्रण में रखती है और इन्द्रियों पर भी शासन करती है। यही शक्ति बुद्धि को परिष्कृत करती है, भावनाओं को निर्मल बनाती है और शुभ कार्यों को करने की प्रेरणा देती है।

अशुभ संकल्पों के कारण मनुष्य, मनुष्य-शरीर को धारण किये हुए भी

पशु बन जाता है और शुभ संकल्पों के कारण मनुष्य होते हुए भी देवता कहलाने लगता है। अगर हमारे हृदय में शुभ विचार आते हैं और वे स्थायी बने रहते हैं तो स्वर्ग जैसा मधुर तथा सुखद वातावरण हमारे लिये है यहीं बन जाता है। जो मनुष्य अपने वर्तमान जीवन का निर्माण न करके स्वर्ग प्राप्त करने के स्वप्न लेता है उसके विषय में आचार्य कहते हैं :—

'इतो विनष्टिर्महती विनष्टिः'

अर्थात् इहलोक का बिगाड़ सबसे बड़ा बिगाड़ है।

जो व्यक्ति अपने शुभ कार्यों से, शुभ विचारों से और अपने मधुर व्यवहार से अपने आसपास के वातावरण को भी स्वर्ग नहीं बना सकता, उसके लिये स्वर्ग प्राप्त करने की कल्पना व्यर्थ है। जो यहाँ स्वर्ग का निर्माण करेगा वही आगे स्वर्ग पाने का अधिकारी बन सकेगा।

शरीर तो मनुष्य को भी मिला है और पशु को भी। बनावट में भी थोड़ा अन्तर है। किन्तु वास्तव में जो महत्वपूर्ण अन्तर है वह शरीर की बनावट में नहीं, दोनों की विचार-शक्ति में है। पशु में विशेष विचारशक्ति नहीं होती, चिन्तन व मनन करने का सामर्थ्य नहीं होता। वे अपने जीवन का कोई लक्ष्य नहीं बना सकते और उसके अनुसार कर्त्तव्यों का पालन भी नहीं कर पाते।

मानव में विचारशक्ति होती है। आत्मा का हित और अहित करने वाले पदार्थों की उसे पहचान होती है। चिन्तन तथा मनन करने की बुद्धि होती है और इसीलिए वह 'मनुष्य' कहलाता है। कहा भी है :—

"मननात् मनुष्यः"

जो मनन करता है वही मनुष्य है। अगर मनुष्य मनन करना छोड़ दे और बिना उचित, अनुचित तथा हिताहित का विचार किये ही कार्य करता चला जाए तो वह पशु से ऊँचा नहीं माना जा सकता। उसका मानव तन पाना निष्फल हो जाता है जो अनेकानेक जन्म-जन्मांतरों के पश्चात् भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मानव शरीर पाकर मनुष्य इसका पूरा लाभ उठा ले। तुलसीदास जी ने कहा है :—

बड़े भाग मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा, पाइ न जेहि परलोक सुधारा॥

सो मरन्त दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछ्ताय।
कालहिं करमहिं, ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय॥

अर्थात्—मानवशरीर वड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। सद्ग्रन्थ इसकी प्रशंसा करते हैं और इसे देवों को भी दुर्लभ वताते हैं। जीव इस मनुष्य-शरीर के द्वारा ही अपने को भव वंधनों से मुक्त कर सकता है, मोक्ष प्राप्ति के लिये साधना कर सकता है, किन्तु जो मानव-तन पाकर भी अपना परलोक नहीं सुधारता, उसे अन्त में अत्यन्त दुख पाना पड़ता है और महान पश्चात्ताप करना होता है। अन्त समय आने पर जब परलोक को सुधारने का वक्त नहीं रहता और शक्ति भी साथ छोड़ जाती है तब वह प्राणी सिर धुनता है और खोये हुए समय की याद करके दुखी होता है। उस समय वह कभी काल को दोष देता है, कभी कर्मों को और कभी ईश्वर को मिथ्या दोष देता है। किन्तु अपनी करतूतों पर विचार नहीं करता।

मनुष्य का जीवन दो भागों में बंटा हुआ होता है—अन्तरङ्ग तथा वहिरङ्ग। वाह्य जीवन आंतरिक जीवन से प्रभावित होता है और वाह्य जीवन का प्रभाव आंतरिक जीवन पर पड़ता है। विचारों की पवित्रता दोनों के पवित्र और शुद्ध होने पर ही रह सकती है। विचार ही आचार बनता है और फिर आचार ही विचारों को स्थायी रूप देते हैं।

मनुष्य की इच्छाएं असीम अर्थात् गणनातीत होती हैं। उसकी प्रत्येक इच्छा एक संकल्प हो जाती है। उन समस्त संकल्पों को शुभ सकल्पों में परि-णत करना सहज नहीं है किन्तु मोक्षार्थी साधक को अत्यन्त विवेकपूर्वक तथा दृढ़ नियम पूर्वक उनको शुभ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और अशुभ संकल्पों का नाश और त्याग करना चाहिये।

संकल्पों का, दूसरे शब्दों में विचारों का जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचार अदृश्य रूप में रहते हुए भी अपना कार्य करते रहते हैं और उनके परिणाम शुभ और अशुभ रूप में हमारे सामने आते हैं। अगर विचार हीन और तुच्छ होंगे तो मनुष्य आचरण से गिर जाएगा और अगर विचार पवित्र और उन्नत होंगे तो वह महात्मा बनकर अन्त में परमात्मा भी बनेगा। एक शायर ने इस विषय में बड़े ही सुन्दर ढंग से कहा है :—

गिरते हैं जब ख्याल तो गिरता है आदमी ।
जिसने इन्हें सभाल लिया वो संभल गया ।।

अर्थात् जब मनुष्य के विचार गिर जाते हैं तो उसका आचरण भी गिर जाता है और धीरे-धीरे उसका पतन होना शुरू हो जाता है । परिणाम यह होता है कि अन्त में वह पूरी तरह गिर जाता है । इसके विपरीत, जब मनुष्य अपने विचारों को संभाल लेता है, अर्थात् उनपर दृढ़तापूर्वक नियन्त्रण रखता है तो वे जीवन को पवित्र, शांतिमय और नैतिकता पूर्ण वनाने में सहायक होते हैं और परिणाम स्वरूप जीवन उन्नत वनता चला जाता है और अंत में उसे भव-वंधनों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।

मनुष्य अनेकानेक ग्रन्थों को पढ़ लेता है, दुनिया भर का ज्ञान भी अपनी खोपड़ी में भर लेता है किन्तु अपने विचारों की पवित्रता की ओर उसका ध्यान नहीं जाता । अन्तःकरण को समझने की कोशिश नहीं करता । जिस विषय का जीवन के उत्थान और पतन से अत्यन्त घनिष्ठ संवंध है उसी की ओर उसकी उदासीनता रहती है।

कहने का मतलव यही है कि शुभ संकल्प अथवा शुभ और श्रेष्ठ विचारों का हमारे जीवन पर महान प्रभाव पड़ता है । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि हमारे विचार जिस प्रकार के होते हैं उसी प्रकार का हमारा जीवन वनता है। जिस प्रकार से हम वोलते हैं उसी प्रकार की क्रियाएँ भी करने लगते हैं । इसीलिए कहा जाता है :—

यद् मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति ।
यद् वाचा वदति, तद् कर्मणा करोति ।।
यत् कर्मणा करोति तत्फलमुपपद्यते ।।

अर्थात् मानव जैसा विचार करता है उसी प्रकार की वाणी वोलता है । जैसी वाणी वोलता है वैसी ही क्रियाएँ करता है, और जैसी क्रियाएं की जाती हैं, वैसा ही उसका फल उत्पन्न होता है ।

यहाँ कहा गया है कि मनुष्य के मन में जैसे विचार होंगे, जैसा उसका ध्यान और चिन्तन होगा वैसी ही वाणी का वह प्रयोग करेगा । अतएव मनुष्य को सर्वप्रथम अपने मन को शुद्ध वनाना चाहिये ।

मन द्रव्य एक सूक्ष्म सत्ता है । वह अत्यन्त सूक्ष्म मनोवर्गणा के परमा-

परमाणुओं से बना हुआ है। भाव मन अमूर्त है और वह आत्मा की वैभाविक शक्ति है। द्रव्यमन के आलंबन से मनन-क्रिया होती है। वही पदार्थों को सुख-दुःख रूप कल्पित करता है। वास्तव में भौतिक वस्तुओं से जो सुख प्राप्त होता हुआ दिखाई देता है वह वास्तव में सुख नहीं वरन् सुखाभास होता है। जो सुख सांसारिक पदार्थों में प्रतीत होता है वह उन पदार्थों में नहीं होता। उस सुख का भास मन की ही परिणति है। कल्पना कीजिये कि एक पुरुष नटों का नृत्य देख रहा है और उसमें उसे आनन्द आ रहा है, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् उसका एक मित्र किसी मनोरंजक फिल्म के आने की सूचना देता है तो वह सिनेमा देखने चला जाता है और उसमें सुख का अनुभव करता है। पर अकस्मात् ही उसके घर से कोई व्यक्ति उसे खोजता हुआ आता है और घर में आग लग जाने की सूचना देता है तो उसी क्षण सिनेमा देखने में जो आनन्द उसे आ रहा था वह विलीन हो जाता है और वह घर की ओर भागता है।

अब बताइये अगर नटों के खेल में आनन्द होता तो वह उसे छोड़कर सिनेमा देखने क्यों जाता ? और सिनेमा देखने में ही आनन्द होता तो उसे छोड़कर घर की ओर क्यों दौड़ता ? इससे प्रतीत होता है कि सुख तो मन की परिणति-विशेष में ही है। अतः अगर मन पर कठोरता से नियंत्रण न रखा जाए तो वह बड़ा अस्थिर बना रहता है और जैसी-जैसी परिस्थितियाँ उसके सामने आती हैं उसी के अनुसार उसके मन में काम, क्रोध, मोह और लोभ आदि की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। श्री सुन्दरदास जी ने मन की गति का सुन्दर विवेचन किया है :—

> जो परनारी की ओर निहारत,
> तो मन होत है ताहि को रूपा।
> जो मन काहू सौं क्रोध करे तब,
> क्रोधमयी होए ताहि को रूपा॥
> जो मन माया ही माया रटे नित,
> तो मन बूड़त माया के कूपा।
> सुन्दर जो मन ईश विचारत
> तो मन होत है ईश-स्वरूपा॥

बंधुओ, इस सुन्दर पद का अर्थ आप समझ गए होंगे। जो मनुष्य अस्थिर-

चित्त होता है वह ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं करता। झूठ बोलता है, कपट करता है, धोखा देता है और इस प्रकार दूसरों को ठगता है। किसी का भी अनिष्ट करने में उसे संकोच नहीं होता। बात की बात में अपने नेत्रों से क्रोध की चिनगारियाँ निकालता है, अहंकार से अकड़ा रहता है और अशुद्ध संकल्पों का स्वामी बनकर अन्याय और अधर्म से अर्थोपार्जन करता है। दूसरों के अधिकारों का अपहरण करता है। ऐसा व्यक्ति आहार और विहार के सम्बन्ध में भी विवेक नहीं रख सकता। तब वह आत्म-तत्त्व के गूढ़ मर्म को कैसे समझ सकता है? अपने मन पर कैसे नियंत्रण रख सकता है?

किन्तु इसके विपरीत जो मनुष्य अपने मन पर काबू रखता है, उसे मार्गभ्रष्ट होने नहीं देता, वही अपनी इच्छाओं का स्वामी और नियंत्रक होता है। वही महान् पुरुष दृढ़तापूर्वक अपनी दिनचर्या के समस्त व्यवहार करता है। कहा भी है :—

"यस्य चित्तं स्थिरीभूतं—
स हि ध्याता प्रशस्यते।"

अर्थात्—जिसका चित्त स्थिर और अडोल होता है वही पुरुष ध्यान का प्रशंसनीय अधिकारी है।

ऐसा दृढ़ पुरुष चाहे किसी भी विपत्ति, आधि, व्याधि या हृदय को विचलित कर देने वाली स्थिति में पड़ जाए, उसके मन में किंचित् मात्र भी हलचल नहीं होती। वह अडिग, अडोल, अविचलित, ध्रुव, दृढ़ और स्थिर भाव से अपने सब व्यापार स्वाभाविक रूप से चलाता रहता है। प्रायः अन्तःकरण में उद्वेग के तीन मूल कारण होते हैं—क्रोध, भय और चिन्ता। इनका आवेश मन की कुप्रवृत्ति का परिणाम होता है। शांत और संयत मन पर इन विकारों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। मल वहीं जमता है जहाँ असमतल स्थान होता है। किन्तु जिनका मन शीशे के तुल्य निर्मल और सम हो वहां उद्वेगों से होने वाली हलचल नहीं होती और कषायों का मैल नहीं जमता।

यह बात नहीं है कि संयत मन वाले पुरुष को क्रोध आता ही नहीं। जहाँ अत्याचार होता है तथा अन्याय और अनर्थों को रोकने की आवश्यकता होती है, वहाँ स्थिर मन वाला पुरुष अपने प्रशस्त क्रोध द्वारा सब प्रकार की व्यवस्था में सहायक बनता है। वह क्रोध प्रशस्त इसलिये कहा जाता है कि वह बुद्धिपूर्वक किया जाता है, उसमें द्वेष, वैमनस्य और विषमता नहीं होती।

उस समय मनुष्य के हृदय में सिर्फ भयाक्रांत जीवों को भय से रहित करने की भावना तथा उनके हित की इच्छा होती है।

मानसिक संयम रखने वाला व्यक्ति बलिष्ठ और दीर्घजीवी भी बनता है। अशांत और अस्थिर विचारों वाला मनुष्य उत्तेजना तथा क्रोध के कारण अपनी आयु को कम कर लेता है। शांत तथा पवित्र विचारों वाला व्यक्ति मानसिक शक्ति बढ़ा लेता है और दीर्घजीवी होता है। दृढ़ संकल्प और आत्म-विश्वास मन में तल्लीनता तथा तत्परता पैदा करता है। और वैसी स्थिति में किया गया प्रत्येक कार्य लाभ-प्रद बन जाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह क्रोध, चिन्ता तथा निराशा आदि के द्वारा मन को रोगी न बनाए और मानसिक रूप से सदा स्वस्थ रहने का प्रयत्न करे।

मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है प्रसन्नचित्त रहना। हम अनेक व्यक्तियों को सदा दुखों से व्याकुल तथा चिन्तातुर देखते हैं। वे दूसरों की समृद्धि तथा सुखमय अवस्था को देखकर ही द्वेष तथा ईर्ष्या की आग में निरंतर जला करते हैं। दूसरों के छिद्र देखा करते हैं और उनकी निंदा करके अपने चित्त को कलुषित बनाते हैं। ये सब मानसिक रोग हैं जिनका प्रभाव शरीर पर भयंकर रूप से पड़ता है। कहा भी है :—

'A merry heart doeth good like a medicine, but a broke spirit drieth the bones."

अर्थात्—प्रसन्नचित्त रहना औषध का काम देता है किन्तु शोकयुक्त रहना अस्थियों को सुखा देता है।

कई विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि रोग वास्तव में शरीर में उत्पन्न नहीं होता किन्तु मन में होता है। रोगग्रस्त मन' की भावनाएँ शरीर को भी अस्वस्थ बना देती हैं। जिनका मन सदा विक्षिप्त और अशांत रहता है, उनकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है। गीता में एक स्थल पर श्रीकृष्ण ने कहा है :—

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

यानी प्रसन्नचित्त रहने से बुद्धि शीघ्र ही एकाग्र हो जाती है।

मेरे कथन का सारांश यही है कि हृदय में शुभ संकल्प स्थापित करने के लिये सर्व प्रथम इन्द्रियों तथा मन पर संयम रखने का प्रयत्न करना चाहिए

ईर्ष्या, द्वेष, विषय तथा कषायादि से मन को विकृत न होने देकर उसे सरल, शुद्ध और दृढ़ बनाना चाहिये। शुद्ध मन में ही शुद्ध संकल्प हो सकते हैं और मन के दृढ़ रहने पर वे स्थायी बन सकते हैं।

अभी आपको बताया था कि "यद् मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति।"

अर्थात्—मन में जैसे विचार होते हैं वैसे ही वाणी के द्वारा बोले जाते हैं। वाणी ही मन का दर्पण है। वाणी के द्वारा ही मनुष्य के हृदयगत भावों की पहचान होती है। वाणी का प्रभाव सुनने वाले पर एकदम ही पड़ता है। मधुर वचनों को सुनकर मनुष्य आनन्दविभोर हो उठता है और कटु वचनों को सुनकर शोकाकुल। कहा जाता है:—

संसारकटुवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु संगतिः सुजने जने॥

अर्थात्—संसार रूपी कटु वृक्ष के अमृत के समान दो फल हैं, सरस प्रिय वचन और सज्जनों की संगति।

बुद्धिमान् पुरुष अपने वचनों का अत्यंत सावधानीपूर्वक प्रयोग करता है। वह ध्यान रखता है कि मेरे वचनों के द्वारा किसी भी प्राणी को खेद न हो, किसी का तिरस्कार न हो, किसी के दिल को चोट न पहुँचे। और ऐसे व्यक्ति के वचनों का प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर बड़ा आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है।

कहा जाता है कि जब सामनगढ़ का किला बन रहा था, महाराज शिवाजी एक दिन उसका निरीक्षण करने आए। वहाँ बहुत से मजदूरों को काम करते देखकर उन्हें गर्व का अनुभव हुआ और वे सोचने लगे—'मेरे कारण इतने लोगों की रोजी चल रही है।" इतने में ही गुरु श्री समर्थ वहाँ आए। उन्होंने शिवाजी के इस अहंकार को जान लिया। वे बोले—'वाह! शिवा, वाह! इतने व्यक्तियों का पालन तुम्हारे द्वारा ही हो रहा है।' गुरु के मुख से भी इसी बात को सुनकर शिवाजी महाराज अपने को अधिक धन्य समझने लगे। बोले—भगवन्! यह सब आपके आशीर्वाद का ही फल है।

इतने में ही मार्ग में एक चट्टान देखकर गुरुजी ने कहा—यह चट्टान बीच में क्यों छोड़ दी है?

शिवाजी ने उत्तर दिया—'रास्ता बन जाने पर इसे तुड़वा दिया

जाएगा। श्री समर्थ बोले—नहीं, नहीं, प्रत्येक काम को हाथों-हाथ ही करवाना चाहिये। जो काम रह जाता है वह बाद में हो नहीं पाता।

शिवाजी ने फ़ौरन कारीगरों को बुलवाया और बात की बात में चट्टान तोड़ डाली गई। उसके नीचे पानी से भरा एक गड्ढा निकला और गढे में एक जीवित मेंढक। सद्गुरु उसे देखते ही बोले—शिवा धन्य हो तुम ! इस शिला के अन्दर भी तुमने पानी रखवाकर इस मेंढ़क को जीवित रखने का इंतजाम कर दिया है।

श्री समर्थ के इन वचनों का ऐसा आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा कि शिवाजी का अहंकार क्षण भर में ही विलुप्त हो गया और वे अपनी भूल समझ कर तुरन्त ही गुरुजी के चरणों में गिर पड़े। उन्होंने अपने झूठे अहंकार के लिए क्षमा मांगी।

कहने का तात्पर्य यही है कि निष्कपट और सदा दूसरों का हित चाहने वाले व्यक्ति के वचनों का प्रभाव अविलम्ब और आश्चर्यजनक रूप से पड़ता है। वह इस कथन को चरितार्थ करता है :—

मधुर वचन है औषधि, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वारा ह्वै संचरे, साले सकल शरीर।।

वास्तव में मृदुता का दूसरा नाम ही मनुष्यता है और कटुता का पिशाचता। मृदुभाषी पुरुष के सभी मित्र होते हैं और कटु भाषी के सभी शत्रु। मृदुभाषी के लिए सब अपने और कटुभाषी के लिए सब पराये होते हैं।

मृदुभाषी मनुष्य का मन अत्यन्त कोमल तथा शुभ संकल्पों से भरा हुआ होता है। उसके हृदय में प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और दया की भावना विद्यमान रहती है। तभी तो उसकी वाणी सुनने वाले के हृदय में अनिर्वचनीय आह्लाद उत्पन्न कर देती है अन्यथा जो चीज मन में न हो वह वचनों में कैसे आ सकती है ? मन की सरलता, निष्कपटता और शुद्ध संकल्प ही वाणी के द्वारा बाहर आते हैं। शुभ संकल्पों से भरा हुआ मन ही अपनी स्वर्गीय सम्पत्ति से अन्य इन्द्रियों को भी मृदुता से सम्पन्न बना देता है।

जिसके हृदय में शुभ विचार होते हैं उसके सन्मुख चाहे कोई भी भीषण विपत्ति आ जाए, प्रलय काल का पवन भी क्यों न चलने लगे, तब भी वह अशांत नहीं होता। तनिक भी घबराहट उसके चेहरे पर नहीं आ सकती।

इसीलिये मनुष्य को सदा अपने हृदय में शुभविचारों को और शुभ संकल्पों को ही स्थान देना चाहिये जिससे उसके वचनों में भी मृदुता बनी रहे।

हृदय के विचार तो दूसरे मनुष्यों को कुछ विलम्ब से भी समझ में आते हैं। यह भी संभव है कि द्वेष और कपट आदि से भरे हुए संकल्प किसी को ज्ञात न हों। किन्तु वचन का प्रभाव पल भर में ही सुनने वाले व्यक्ति पर पड़ जाता है। मुख के द्वारा बाहर निकलते ही सारा जगत् उनको जान लेता है। उनका प्रभाव उच्चारण करने के साथ ही होना शुरू हो जाता है। अतः वचनों के उच्चारण में प्रत्येक मानव को अत्यंत सावधानी रखना आवश्यक है।

धनुष के द्वारा छोड़े गये तीर और बन्दूक से निकली हुई गोली का जिस प्रकार तुरन्त ही असर हो जाता है, उसी प्रकार मुँह से कहते ही वचनों का असर हो जाता है। इसीलिये किसी कवि ने सीधे और सरल शब्दों में कहा है :—

बोल सकते हो अगर तो बोल लो
तुम बड़ी प्यारी रसीली बोलियाँ।
दिल किसी का चूर मत करते रहो,
मुंह से चलाकर गालियों की गोलियाँ।

यह बात कभी भी विस्मरण नहीं करनी चाहिए कि अनन्त पुण्य का उदय होने पर जीभ मिलती है और उसके पश्चात् भी अनन्त पुण्य का उदय होने पर बोलने की क्षमता आती है। मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तक बड़ी भारी कीमत अदा करता है अर्थात् अपना प्रकृष्ट पुण्य देकर बदले में बोलने की शक्ति प्राप्त करता है। इतनी बहुमूल्य शक्ति को अविवेक तथा बुद्धिहीनता के कारण व्यर्थ गँवाना क्या महामूर्खता नहीं है? इस अद्भुत शक्ति के द्वारा तो जितनी कीमत हमने चुकाई है उसका पूरा पूरा लाभ हमें उठाना चाहिये। तभी हमारा जिह्वा को प्राप्त करना सार्थक हो सकेगा।

'वाणी के पश्चात् कर्म का महत्त्व बताया गया है। मनुष्य जैसी वाणी बोलता है वैसे ही कर्म करता है :—यद् वाचा वदति, तद् कर्मणा करोति।" अर्थात् जैसी वाणी बोलता है वैसी ही क्रियाएँ करता है।

विश्व में जितने भी महापुरुष हुए हैं और जिनकी कीर्ति से मनुष्य-जाति का इतिहास प्रकाशित है, वह सब उनके शुभ कर्मों का ही फल है। जिन जातियों में परम्परागत विशुद्ध संस्कारों के कारण या वातावरण की

उत्तमता के कारण व्यक्ति सदाचारी होते हैं और शुभ संकल्प तथा उनके अनुसार शुभ कार्य करते हैं, वे जातियाँ मानवता को जीवित रखती हैं। वे ही जातियाँ आर्य संस्कृति को संसार के सामने शुद्ध और परिष्कृत रूप में रखती हैं। वे स्वयं संपन्न अवस्था में रहती हैं और सभी के सम्मान की पात्र बनती हैं। क्योंकि शुभ कर्म ही मन की पवित्रता को जाहिर करते हैं :—

"Great action speak of great mind."

—महान् कर्म महान् मस्तिष्क को सूचित करते हैं।

मनुष्य कितना ही ज्ञानवान् क्यों न हो, कितने भी शास्त्रों में पारंगत क्यों न हो जाए, किन्तु अगर उसके कर्म शुभ नहीं है तो वह ज्ञान उसके लिये व्यर्थ और भाररूप है। कहा भी है :—

"हतं ज्ञानं क्रिया-शून्यं—
हता चाज्ञानिनः क्रिया।"

—शुभचन्द्राचार्य

अर्थात् चरित्र से रहित पुरुष का ज्ञान निरर्थक होने से फलशून्य होता है और सम्यक् ज्ञान से रहित पुरुष की क्रियाएँ भी भारभूत होने से व्यर्थ होती हैं।

सदाचार के बिना मानव-जीवन का कोई मूल्य नहीं है। ऐसी उत्तम पर्याय पाना भी न पाने के समान ही हो जाता है। शरीर की आकृति का कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य के जैसी ही आकृति बन्दर की भी होती है किन्तु आकृति मात्र से कोई लाभ नहीं होता। सच्चा मनुष्य वही कहलाता है जो मनुष्योचित शुभ कर्म करता है, अपने शुभ संकल्पों को अपने आचार में उतारता है।

जिस प्रकार रत्नाभूषणों की कीमत तिजोरी से नहीं आँकी जाती, वस्त्रों की कीमत पेटी से नहीं मानी जाती, उसी प्रकार मनुष्य की कीमत उसकी आकृति अथवा सुन्दरता के कारण नहीं मानी जा सकती। उसकी महत्ता तो उसकी अपनी अच्छाइयों पर तथा अच्छी क्रियाओं पर ही निर्भर होती है।

मनुष्य का शरीर सुन्दर है, उसके पास अतुल वैभव है, स्वजन-परिजनों

से भरा-पूरा परिवार है, ससार की समस्त वस्तुएँ हैं, किन्तु अगर सदाचार नहीं है तो समझना चाहिये कि उसके पास कुछ भी नहीं है।

दीर्घकाल से वासनाओं और कपायों से प्रभावित होने के कारण मनुष्य की प्रवृत्तियाँ कुपथ की ओर अग्रसर हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में सदाचार की रक्षा करने के लिये अत्यन्त सावधान और सजग रहने की आवश्यकता होती है। अपने आचार को दृढ़ और कर्मों को पवित्र बनाने के लिये भगवान् महावीर ने अत्यन्त सरल और सुन्दर उपाय बताया है—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं चाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंधं कुज्जा॥

अर्थात् प्रत्येक विचारशील और मन-शुद्धि के लिये साधना करने वाले पुरुप को यह सोचना चाहिये कि दूसरे व्यक्ति मुझमें क्या दोष देख रहे हैं? स्वयं मुझमें क्या दोप हैं? क्या मैं इन दोपों का परित्याग नहीं कर रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक् रूप से अपने दोपों का निरीक्षण करने वाला साधक कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे उसके शील और संयम में बाधा पहुंचे।

आचारवान् पुरुप अपने हृदय की प्रेरणा से उचित और शुभ मार्ग पर चलता है। वह कभी ठोकर खाकर पाप के गढ़े में नहीं गिरता। वह न केवल स्वयं उन्नत बन जाता है किन्तु अपने संसर्ग में आने वाले अन्य प्राणियों को भी ऊंचा उठा देता है। उसके सदाचार का सौरभ समस्त वायुमंडल को सुगंधित बना देता है और वह जिस देश में भी रहता है उसकी प्रतिप्ठा और गौरव में वृद्धि करता है।

कोरे शब्द-ज्ञान और विद्वत्ता से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। कर्मों से मुक्ति तो सदाचरण से ही हो सकती है। शुभ क्रियाओं के द्वारा ही आत्मा परमानन्द को प्राप्त कर सकता है। सम्यक् ज्ञान तो हमें वस्तु का सच्चा स्वरूप बता सकता है। कौन-सी वस्तु त्यागने योग्य है और कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है? यह उससे समझा जा सकता है, तथा वह साधना का मार्ग प्रकाशित कर सकता है। किन्तु त्याज्य वस्तु को त्यागना, उपादेय वस्तु का उपादान करना, और सन्मार्ग पर चलना तो क्रिया के द्वारा ही संभव है।

जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करके ही संतुष्ट हो जाता है और समझ लेता है कि ज्ञान से ही हमारा कल्याण हो जाएगा, वह बड़ी भूल करता है। प्राप्त किये हुए ज्ञान को अगर आचरण में न लाया जाय तो वह उसी प्रकार होगा जिस प्रकार कि सर्प को नेत्रों से देखकर भी बचने का प्रयत्न न करना, यह जानकर भी कि अमुक औषधि से रोग का नाश होता है, औषधि न लेना। ऐसी स्थिति में सर्पदंश से कैसे बचा जाएगा ? बीमारी का नाश कैसे होगा ? और क्रिया के बिना कर्मों से छुटकारा कैसे मिलेगा ?

"आचारः प्रथमो धर्मः।" आचार ही सबसे पहला धर्म है। अनेकानेक शास्त्र पढ़कर भी उन्हें अपने जीवन में, कर्म में न उतारा जाय तो उनको पढ़ने से क्या लाभ हुआ ? एक गधे पर अगर चन्दन का बोझा रखा जाय तो वह उसको भार ही महसूस होगा। इसी प्रकार मनुष्य ज्ञान की कितनी भी बड़ी गठरी लाद ले, विद्वत्ता का कितना भी बोझ अपने ऊपर लाद दे, किन्तु अगर वह उसे आचरण में नहीं लाएगा तो वह मात्र भारभूत ही महसूस होगा।

कषाय के वशीभूत होकर जो कर्म किये गए हैं वे भौतिक पदार्थों की प्राप्ति तो करा सकते हैं किन्तु आत्मा को निर्मल नहीं बना सकते। जब तक प्राप्त हुआ ज्ञान सम्यक् प्रकार से जीवन में नहीं उतरता और उसके अनुसार कर्म नहीं किये जाते तब तक वह ज्ञान और क्रियाएं सभी व्यर्थ साबित होती हैं।

कौरव और पांडव गुरु द्रोणाचार्य के पास शिक्षा प्राप्त करते थे। एक दिन गुरुजी ने अपने सब शिष्यों को पाठ पढ़ाया—"क्षमां कुरु।" अर्थात् क्षमा धारणा करो।

उनके समस्त शिष्यों ने अगले दिन यह पाठ याद करके सुना दिया, किन्तु युधिष्ठिर ने नहीं सुनाया। दो-तीन दिन बीत जाने पर आचार्य ने युधिष्ठिर से पाठ सुनाने के लिये कहा पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—भगवन्, मुझे तो अभी पाठ याद नहीं हो पाया।

इसके पश्चात् भी कई दिवस व्यतीत हो गए और युधिष्ठिर ने पाठ नहीं सुनाया तो गुरुजी को क्रोध आ गया। उन्होंने युधिष्ठिर को बहुत पीटा।

मार खाते समय युधिष्ठिर बिलकुल शांत रहे। उनके मन में तनिक भी क्रोध नहीं आया।

मार खा चुकने के पश्चात् युधिष्ठिर ने कहा—आचार्यवर ! अब मुझे पाठ याद हो गया।

द्रोणाचार्य ने हैरानी और क्रोध से कहा--इतने दिनों तक तुझे जो पाठ याद नहीं हुआ था वह अभी-अभी कैसे हो गया ?

युधिष्ठिर ने कहा—गुरुदेव ! इतने दिन तक मैं यही विचार कर रहा था कि ऐसा प्रसंग आए कि कोई मुझे मारे-पीटे या चोट पहुंचाए फिर भी मैं शान्त रहूं—मेरे मन में तनिक भी क्रोध न आए और मन में क्षमाभाव बना रहे तब जानूं कि पाठ याद हो गया। आज ऐसा अवसर आया है। आपने मुझे पीटा और मुझपर क्रोध भी किया किन्तु मेरे हृदय में तनिक भी क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ है। मेरा मन पूर्ववत् प्रसन्न है। अतः मैं समझता हूं कि आज मुझे आपका पढ़ाया हुआ पाठ—"क्षमां कुरु" याद हो गया है।

द्रोणाचार्य युधिष्ठिर की बात सुनकर गद्गद हो उठे। उन्होंने उसे अपने हृदय से लगा लिया। बोले—वत्स ! मेरा पढ़ाया हुआ पाठ पूरे तौर से सिर्फ तुम्हीं याद करते हो !

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को चाहिये कि वह सर्वप्रथम मन में शुभ संकल्पों को स्थान दे और उनके अनुसार ही वाणी पर संयम रखते हुए उसका प्रयोग करे। परिणाम यह होगा कि मन के शुभ विचारों के अनुसार ही जिह्वा से वचन निकलेंगे और वचनों के अनुसार ही उत्तम क्रियाएं हो सकेंगी।

सूत्र में आगे कहा गया है—"यत् कर्मणा करोति, तत्फलमुत्पद्यते।" अर्थात्-जैसी क्रियाएं की जाती हैं वैसा ही उनका फल उत्पन्न होता है।

शुभ संकल्पों के अनुसार शुभ क्रियाएं करने से उनका फल तो स्वयं ही मिल जाता है। उसके लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। खेत में जैसा बीज बोया जाता है उसके अनुसार ही पौधा तैयार हो जाता है। इसलिये कर्मों के फल की आकांक्षा न रखते हुए मनुष्य शुभ कर्म करने का ही प्रयत्न करे। शुभ कर्म करने पर उसका फल तो निश्चय ही स्वयं प्राप्त हो जाएगा। महाभारत में भी कहा गया है—

शुभेन कर्मणा सौख्यं, दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र, नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥

—वेदव्यास

अर्थात्—शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दुःख मिलता है। सर्वत्र अपना किया हुआ कर्म ही फल देता है। विना किये फल नहीं भोगा जा सकता।

जो महान् पुरुष फल की अभिलाषा छोड़ कर कर्म करते हैं, उन्हें कालांतर में फल अवश्य प्राप्त होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने वार-वार कहा है कि—"फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो, आशारहित होकर कर्म करो, निष्काम होकर कर्म करो। जो फल की आकांक्षा छोड़कर कर्म करते हैं उन्हें मोक्ष-पद अवश्य प्राप्त होता है।"

कर्मो का महत्त्व वचनों से भी अधिक होता है। जो व्यक्ति सिर्फ शब्दों के आडम्बर से और अपनी पांडित्यपूर्ण भाषा के प्रयोग से ही अपने को उच्च मानते हैं, पाप, पुण्य, बंध और मोक्ष की बातें ही बघारते रहते हैं तथा अपनी वाचनिक शक्ति से ही अपने को संतुष्ट हुआ मानते हैं, वे कभी अपनी आत्मा को दुःखों से छुटकारा नहीं दिला सकते। ऐसे बाल-अज्ञानी जीव अंत में विषाद ही पाते हैं। किसी विद्वान् ने कहा भी है—

"Actions speak louder than words"

अर्थात् कर्मों की ध्वनि शब्दों से ऊंची होती है।

स्पष्ट है कि कोरे ज्ञान या वचनमात्र से ही आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता, आत्मा का कल्याण तो इनके साथ ही साथ शुभ क्रियाएं करने से होता है।

किन्तु यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि आत्मा के कल्याण के लिये जो भी क्रियाएं की जाती हैं उनका मूल तो शुभ संकल्प ही हैं। अगर इस मूल को सावधानीपूर्वक सींचा जाएगा तो मुक्ति रूपी फल निश्चय ही प्राप्त होकर रहेगा।

शुभ संकल्पों में इतनी अद्भुत शक्ति विद्यमान है और वह इतनी प्रबल है कि जिसकी कल्पना करना भी अत्यन्त कठिन है। हमारा इतिहास वेद और पुराण सभी इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य के संकल्पों के सम्मुख

देव-दानव सभी परास्त होते हैं। गांधी जी कहते हैं—दृढ़ संकल्प एक गढ के समान होता है जो भयंकर प्रलोभनों से हमको बचाता है, दुर्बल ग्रौर डांवा-डोल होने से वह हमारी रक्षा करता है।

वंधुओ ! मन को सम्यक् प्रकार से साधकर शुभ संकल्प करना चाहिये और करने के बाद किसी भी स्थिति में उन्हें त्यागना नहीं चाहिये। शुभ ग्रौर सत्य संकल्प ही ईश्वर के प्रति सबसे बड़ी निष्ठा है। इसी को भक्ति, पूजा, उपासना और साधना सभी कुछ कह सकते हैं। शुभ संकल्प रूपी शुभ मार्ग पर चल कर मनुष्य निश्चय ही मुक्ति रूपी महल में प्रवेश कर सकता है और सदा के लिये भव-भ्रमण से छुटकारा पा सकता है।